मासिक समाचारपत्र ● पूर्णांक 114 ● वर्ष 12, अंक 9 ● नवम्बर 2022 ● दस रुपये ● विशेष अंक ● 24 पृष्ठ

मज़दूर बिगुल

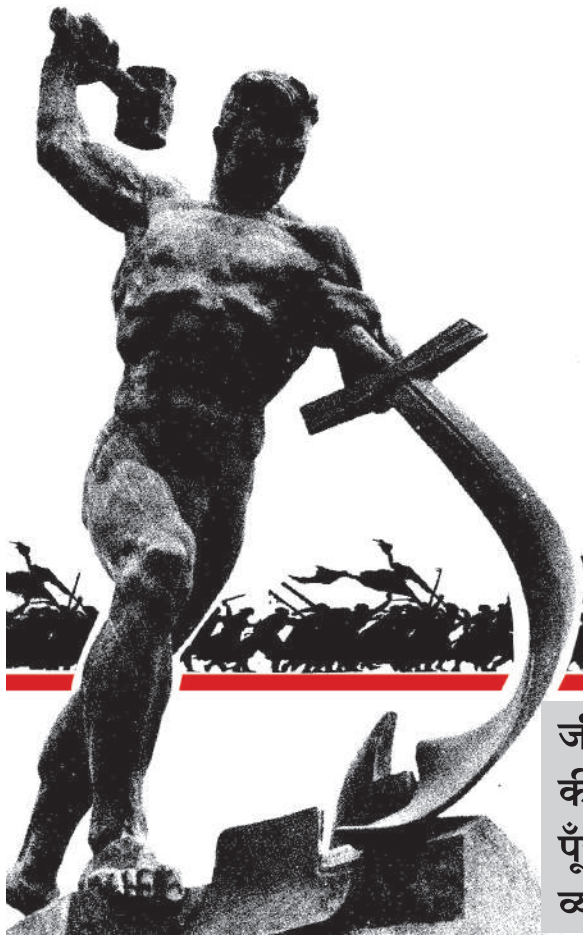

जी.एन. साईबाबा मामले की रोशनी में भारतीय पूँजीवादी न्याय व्यवस्था का सच 7

आज़ाद ज़िन्दगी के लिए ज़ालिम इस्लामी कट्टरपन्थी पूँजीवादी निज़ाम के ख़िलाफ़ ईरान की औरतों की बग़ावत 9

अक्टूबर क्रान्ति पर विशेष सामग्री 22-23

महान समाजवादी अक्टूबर क्रान्ति की 105वीं वर्षगाँठ के अवसर पर

रूस की महान सर्वहारा समाजवादी क्रान्ति का आज मज़दूर वर्ग के लिए क्या महत्व है?

रूस में 36 वर्षों के मज़दूर राज के आज मज़दूरों और ग़रीब किसानों के लिए क्या मायने हैं?

अक्टूबर क्रान्ति की स्मृति और विरासत का आज हम मज़दूरों-मेहनतकशों के लिए क्या अर्थ है?

हर वर्ग अपनी विरासत के गौरवशाली पहलुओं को याद करता है। उसे जीवित रखता है। उससे सीखता है। ताकि भविष्य को गढ़ा जा सके। पूँजीपति वर्ग भी अपनी क्रान्तियों और उनके नायकों को याद करता है। जब वह ख़ुद शासक वर्ग बन जाता है तो वह अपने वर्ग के नायकों को और अपनी जीतों को समूची जनता के नायकों और जीतों के रूप में पेश करता है। हर शोषक शासक वर्ग यह करता है। वह अपने नज़रिए को समूची जनता का नज़रिया बनाकर पेश करता है। वह अपने आपको समूचे "राष्ट्र" का नुमाइन्दा और प्रवक्ता बनाकर पेश करता है। पूँजीपति वर्ग अपने हितों को "राष्ट्रीय हित" बनाकर पेश करता है और अपने शासन को सबसे नैसर्गिक और स्वाभाविक शासन और व्यवस्था के रूप में पेश करता है।

सम्पादकीय अग्रलेख

चूँकि हम जिन स्कूलों आदि में पढ़ते हैं, जो समाचार चैनल सुनते हैं, जिस प्रकार की संस्थाओं और मूल्यों के प्रभाव में रहते हैं, वे पूँजीपति वर्ग के स्कूल, उनके चैनल और उनकी संस्थाएँ व मूल्य हैं, इसलिए हम मज़दूर-मेहनतकश भी पूँजीपति वर्ग के नज़रिए से प्रभावित होते रहते हैं। कई बार हम उनके "राष्ट्र" के हितों को अपना हित समझ बैठते हैं, हालाँकि उनके "राष्ट्र" में हमारा "कर्तव्य" केवल मुट्ठीभर धन्नासेठों के लिए खटना और हाड़ गलाना होता है। *मालिकों के वर्ग की विचारधारा का निश्चित ही हमारे ऊपर असर होता है। जैसा कि मार्क्स ने बताया था हर युग के शासक विचार उस युग के शासक वर्ग के विचार होते हैं।*

लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि शासक वर्ग के विचारों के वर्चस्व को तोड़ा नहीं जा सकता। इसकी वजह हमारे जीवन की स्थितियों में है। हमारी हाड़तोड़ मेहनत की ज़िन्दगी भी हमें हर

(पेज 11 पर जारी)

दिल्ली दंगों पर पूर्ववर्ती न्यायाधीशों की हालिया रिपोर्ट का कहना है –

राज्यसत्ता के संरक्षण में आज़ाद घूमते हत्यारे, दंगाई!
निर्दोष प्रदर्शनकारियों का दमन-उत्पीड़न बदस्तूर जारी!

● प्रियम्वदा

सुप्रीम कोर्ट के पूर्व न्यायाधीश मदन लोकुर के नेतृत्व में बनी जजों की एक कमेटी ने दिल्ली में फ़रवरी 2020 में हुए दंगो पर एक रिपोर्ट जारी की है। इस रिपोर्ट ने केन्द्र व राज्य सरकार के साथ-साथ पूरी राज्य मशीनरी पर प्रश्नचिह्न खड़ा किया है और दिल्ली दंगों के मुख्य कारणों के तौर पर सत्तासीन हुक्मरानों को ज़िम्मेदार ठहराया है।

रिपोर्ट में इन बातों को साक्ष्यों के साथ स्पष्ट किया गया है कि :

1) केन्द्र व राज्य सरकार की लापरवाही, साम्प्रदायिक चरित्र और दंगाइयों को दी गयी खुली छूट ने देश की राजधानी दिल्ली में इस बर्बरतम घटना को अंजाम देने का काम किया।

यह कमेटी कहती है कि "केन्द्र और राज्य सरकारें जीवन, सम्पत्ति और क़ानून के शासन की रक्षा के लिए अपने गम्भीर दायित्व को पूरा करने में विफल रही हैं।"

2) दिल्ली पुलिस व इस मसले में जाँच कर रही एजेंसियों को भी यह रिपोर्ट कठघरे में खड़ा करती है। दिल्ली पुलिस के अल्पसंख्यक-विरोधी रवैये व नफ़रत के कई प्रमाण रिपोर्ट में दर्ज हैं।

3) मीडिया द्वारा फैलाये गये झूठ व तैयार किये गये साम्प्रदायिक माहौल का भी पर्दाफ़ाश जजों की इस कमेटी ने किया है।

वैसे तो यह ताज्जुब की ही बात

(पेज 6 पर जारी)

बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!

गाम्बिया में कफ़ सिरप से 69 बच्चों की मौत दवा सप्लाई करने वाली हत्यारी कम्पनी भारतीय है!

(पेज 6 से आगे)

मुताबिक़ ख़ुद भारत में भी वर्ष 2019 में जम्मू में डाइ एथेलीन ग्लाइकोल युक्त कफ़ सिरप के सेवन से 11 बच्चों की मौत हुई तथा वर्ष 2020 के शुरुआत में डिजीटल विजन नामक कम्पनी द्वारा बनायी गयी ख़राब गुणवत्ता वाली कफ़ सिरप के कारण हिमाचल प्रदेश में भी क़रीब 13 बच्चों की मौत हुई थी।

मेडन फ़ार्मा कम्पनी पर अतीत में भी घटिया दर्जे की दवाई बनाने के आरोप लगते रहे हैं। केरल में एक जाँच के दौरान मेडन कम्पनी द्वारा निर्मित डायबिटीज़ की दवा को घटिया दर्जे की सामग्री का बना पाया गया। इसी साल कुन्नूर में इएस्प्रीन नामक दवा में ज़रूरत से ज़्यादा सेलीसाईलिक एसिड की मात्रा पायी गयी थी। इसी तरह वर्ष 2015 में भी गुजरात में मेडन फ़ार्मा द्वारा बनी दवा गुणवत्ता जाँच में पास नहीं हो पायी थी। हालाँकि इसके उपरान्त भी इस कम्पनी द्वारा दवाओं का उत्पादन जारी रखा गया। जिस मेडन फ़ार्मा पर अभी सवाल उठ रहे हैं, उसने अतीत में अपनी वेबसाइट में यह दावा किया था, कि डब्ल्यूएचओ की तरफ़ से उसे गुड मैन्युफ़ैक्चरिंग प्रैक्टिसेज़ प्रमाण पत्र मिल चुका है। परन्तु, ऑनलाइन न्यूज़ पोर्टल द *वायर* में छपी रिपोर्ट के अनुसार डब्ल्यूएचओ ने बयान दिया है कि उनकी तरफ़ से कभी मेडन फ़ार्मा को कोई भी प्रमाण पत्र नहीं दिया गया है।

ज्ञात हो कि ये दवाइयाँ हरियाणा के कुण्डली, पानीपत और हिमाचल के सोलन में स्थित मेडन फ़ार्मा के प्लाण्ट्स में बनी हैं। इस कारण प्रश्न, हरियाणा स्टेट ड्रग कण्ट्रोल प्राधिकरण पर भी उठता है कि बार-बार जब इस कम्पनी पर घटिया सामग्री का प्रयोग करने को लेकर सवाल उठ रहे थे, तब इस पर कोई ठोस कार्रवाई क्यों नहीं की गयी। इण्डियन ड्रग और कॉस्मेटिक्स एक्ट के अनुसार घटिया दर्जे की दवा बनाने वाले उत्पादकों को 10 साल की सज़ा व 10 लाख जुर्माने का प्रावधान है। हालाँकि ऐसा शायद ही हुआ है, जब डीईजी (डाइ एथेलिन ग्लाइकोल) जैसे विषाक्त यौगिकों के इस्तेमाल करने वाले उत्पादको पर इस क़ानून के तहत कार्रवाई कि गयी हो।

भारत सरकार द्वारा प्रेस इन्फ़ॉर्मेशन ब्यूरो के हवाले से बयान जारी करते हुए यह कहा गया है कि सेण्ट्रल ड्रग्स स्टैण्डर्ड कण्ट्रोल ऑर्गेनाइज़ेशन इस मामले की जाँच कर रही है। पर साथ ही यह भी कहा है कि दवाइयों की जाँच करने की ज़िम्मेदारी आयात करने वाले देश की है। अपने बयान मे बड़ी बेशर्मी से कहा है कि जो चार कफ़ सिरप अभी जाँच के दायरे में हैं, उन्हें भारत में वितरित नहीं किया जाता है। यहाँ तक कि मेडन फ़ार्मास्युटिकल भारतीय बाज़ार में कोई भी दवाई बेचने के लिए उत्पादित नहीं करता है! यह कितना अमानवीय प्रतीत होता है, अगर मेडन फ़ार्मा की दवाएँ भारत में वितरण के लायक़ नहीं हैं, तो इन्हें निर्यात क्यों करने दिया जा रहा है? क्या इन अफ़्रीकी देशों में रहने वाले बच्चों की जान की कोई क़ीमत नहीं है। इस बयान में सबसे विद्रूप बात यह है कि इसमें कहा गया है कि आयातित दवाओं की गुणवत्ता की जाँच की ज़िम्मेदारी ख़ुद आयात करने वाले देश की है। इस बयान से यह तो स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर इस बात के तूल पकड़ने के उपरान्त, भारतीय सरकार द्वारा किसी भी तरह से लीपापोती करके इस पूरे मामले को रफ़ा दफ़ा करने की कोशिश की जा रही है।

जब गाम्बिया में बच्चों की मौत की बात सामने आयी तो यह बाज़ारू गोदी मीडिया इस पूरे घटनाक्रम को देश को बदनाम करने की साज़िश क़रार देने में लग गया। भारत से पिछले वर्ष दवाइयों के निर्यात का कुल कारोबार क़रीब 24.62 अरब डॉलर का रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार में अपनी साख को बचाये रखने के लिए भारत के दवा उद्योग से जुड़े पूँजीपति इस मामले पर पर्दा डालने का पूरा प्रयास कर रहे हैं।

और अन्त में...

पूँजीपतियों की मुनाफ़े की हवस इतनी प्रचण्ड होती है कि इसके सामने मासूम ज़िन्दगियाँ भी छोटी दिखने लगती हैं। पूँजीवादी व्यवस्था ऐसी ही घिनौनी विदुप्रताओं को जन्म देती है। दवा उत्पादक दवाएँ इसलिए नहीं बनाते ताकि लोगों की ज़िन्दगियाँ बच सकें, बल्कि इसलिए उत्पादित करते हैं, ताकि वे मुनाफ़ा कमा सकें। आख़िर कब तक चन्द मुट्ठीभर लोगों के मुनाफ़े की भूख की तृप्ति के लिए मासूम ज़िन्दगियों की बलि चढ़ती रहेगी! यह परिपाटी तब ही रुक सकती है, जब इस मानवद्रोही व्यवस्था को सिरे से उखाड़कर मानवकेन्द्रित समाज की स्थापना कर दी जाये। इसके लिए लम्बे सतत् संघर्ष की अवश्यकता है।

परन्तु तात्कालिक तौर पर इस मसले पर हमें सर्वहारा अन्तरराष्ट्रीयतावाद का परिचय देते हुए गाम्बिया की पीड़ित जनता के पक्ष में खड़ा होना होगा, जिसने ऐसी हृदय विदारक त्रासदी को झेला है। हमारा यह फ़र्ज़ बनता है कि हम भी इस मसले पर सरकार को घेरें, उससे जवाबतलब करें। इसके साथ ही यह भी सुनिश्चित करें कि दोषी दवा उत्पादकों पर त्वरित कार्रवाई की जाये। साथ ही भविष्य में दवाओं की गुणवत्ता को लेकर इस तरह की लापरवाही न हो, इसके लिए ज़रूरी क़दम उठाने के लिए सरकार को मजबूर किया जाये।

भूल सुधार

मज़दूर बिगुल के अक्टूबर 2022 अंक के सम्पादकीय लेख में ग़लती से छप गया था कि योगी आदित्यनाथ 2014 से उ.प्र. के मुख्यमंत्री हैं। सही तिथि मार्च 2017 है। – सम्पादक

अपने कारख़ाने, वर्कशॉप, दफ़्तर या बस्ती की समस्याओं के बारे में, अपने काम के हालात और जीवन की स्थितयों के बारे में हमें लिखकर भेजें। आप व्हॉट्सएप पर बोलकर भी हमें अपना मैसेज भेज सकते हैं। नम्बर है : 8853476339

"बुर्जुआ अख़बार पूँजी की विशाल राशियों के दम पर चलते हैं। मज़दूरों के अख़बार ख़ुद मज़दूरों द्वारा इकट्ठा किये गये पैसे से चलते हैं।" – **लेनिन**

'मज़दूर बिगुल' मज़दूरों का अपना अख़बार है।

यह आपकी नियमित आर्थिक मदद के बिना नहीं चल सकता।
बिगुल के लिए सहयोग भेजिए/जुटाइए।
सहयोग कूपन मँगाने के लिए मज़दूर बिगुल कार्यालय को लिखिए।

मज़दूर बिगुल की वेबसाइट
www.mazdoorbigul.net

इस वेबसाइट पर दिसम्बर 2007 से अब तक बिगुल के सभी अंक क्रमवार, उससे पहले के कुछ अंकों की सामग्री तथा राहुल फ़ाउण्डेशन से प्रकाशित सभी बिगुल पुस्तिकाएँ उपलब्ध हैं। बिगुल के प्रवेशांक से लेकर नवम्बर 2007 तक के सभी अंक भी वेबसाइट पर क्रमशः उपलब्ध कराये जा रहे हैं।
मज़दूर बिगुल का हर नया अंक प्रकाशित होते ही वेबसाइट पर निःशुल्क पढ़ा जा सकता है।
आप इस फ़ेसबुक पेज के ज़रिए भी 'मज़दूर बिगुल' से जुड़ सकते हैं :
www.facebook.com/MazdoorBigul

'मज़दूर बिगुल' का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. 'मज़दूर बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक़ से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफ़वाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'मज़दूर बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और 'बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'मज़दूर बिगुल' स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क़तारों से क्रान्तिकारी भर्ती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

प्रिय पाठको,

अगर आपको 'मज़दूर बिगुल' का प्रकाशन ज़रूरी लगता है और आप इसके अंक पाते रहना चाहते हैं तो हमारा अनुरोध है कि आप कृपया इसकी सदस्यता लें और अपने दोस्तों को भी दिलवाएँ। आप हमें मनीऑर्डर भेज सकते हैं या सीधे बैंक खाते में जमा करा सकते हैं। या फिर QR कोड स्कैन करके मोबाइल से भुगतान कर सकते हैं।

QR कोड व UPI

मनीऑर्डर के लिए पता :

मज़दूर बिगुल,
द्वारा जनचेतना,
डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020

बैंक खाते का विवरण : Mazdoor Bigul
खाता संख्या : 0762002109003787,
IFSC: PUNB0185400
पंजाब नेशनल बैंक, अलीगंज शाखा, लखनऊ

UPI: bigulakhbar@okicici

मज़दूर बिगुल के बारे में किसी भी सूचना के लिए आप हमसे इन माध्यमों से सम्पर्क कर सकते हैं :

फ़ोन : 0522-4108495, 8853476339 (व्हॉट्सऐप)
ईमेल : bigulakhbar@gmail.com
फ़ेसबुक : www.facebook.com/MazdoorBigul

मज़दूर बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय	: 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 फ़ोन: 8853476339
दिल्ली सम्पर्क	: बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-90, फ़ोन: 9289498250
ईमेल	: bigulakhbar@gmail.com
मूल्य	: एक प्रति – 10/- रुपये वार्षिक – 125/- रुपये (डाक ख़र्च सहित) आजीवन सदस्यता – 3000/- रुपये

गुड़गाँव-मानेसर-धारूहेड़ा-बावल पट्टी में जारी मज़दूरों की छँटनी और बर्ख़ास्तगी का सिलसिला और मज़दूरों का प्रतिरोध : एक रिपोर्ट

● शाम मूर्ति

अलग-अलग कम्पनियों में स्थायी मज़दूरों की जगह ठेका मज़दूरों और पुराने ठेका/कैज़ुअल मज़दूरों की जगह पहले से सस्ते और कम अवधि के लिए नये ठेका मज़दूरों, ट्रेनी, अप्रेण्टिस, टी.डब्ल्यू. जैसी विभिन्न श्रेणियों में मज़दूरों को बाँटकर सस्ते से सस्ते और सीमित अवधि के लिए मज़दूरों की भरती की प्रक्रिया जारी है। कहीं पर ठेका ख़त्म हो गया है, कहीं पर घाटा बताकर किसी लाइन को बन्द दिखाकर मज़दूर की छँटनी की जा रही है, तो कहीं वीआरएस का नोटिस लगाकर या मज़दूरों पर झूठा इल्ज़ाम लगाकर बाहर करने की प्रक्रिया को अंजाम दिया जा रहा है।

इसी कड़ी में सितम्बर 2022 में सनबीम लाइट वेटिंग सोल्यूशन ऑटो लिमिटेड के गुड़गाँव प्लाण्ट में 46 मज़दूरों की छँटनी की घोषणा हो चुकी है। पाँच मज़दूरों के पंचिंग कार्ड भी बन्द कर दिये गये हैं। 500 मज़दूरों को अलग से निकालने की चर्चाएँ भी हो रही हैं। बिना ठोस कारण बताये बस ठेका ख़त्म होने की दुहाई दी जा रही है। ऊपर से हिसाब चुकता करने के लिए मज़दूरों पर दवाब बनाया जा रहा है। जबकि मज़दूर पिछले 20 सालों से स्थायी प्रकृति का काम इसी कम्पनी प्लाण्ट में काम कर रहे हैं। यह सीधा-सीधा श्रम क़ानूनों का उल्लंघन है। ठेका प्रथा (विनियमन और उन्मूलन) 1970 के मुताबिक़ स्थायी प्रकृति के काम पर मज़दूरों को ठेके पर नहीं रखा जा सकता है। 240 दिनों के बाद उन्हें पक्का करना होता है। इस नाइन्साफ़ी को लेकर ठेका मज़दूर पिछले महीने ही श्रम विभाग को शिकायत पत्र लगा चुके हैं, लेकिन अभी तक कोई कार्रवाई करना तो दूर, पूरी तरह से सुनवाई तक नहीं की गयी है। एक बार फिर से श्रम विभाग में 28 अक्टूबर की तारीख़ मिली है। इसको लेकर मज़दूरों में बहुत रोष है।

वहीं दूसरी ओर हिटाची (मानेसर) के निकाले गये लगभग 20 ठेका मज़दूरों की भी यही कहानी है। जब 3-4 साल तक पुराने मज़दूरों ने स्थायीकरण की माँग प्रबन्धन के आगे रखी तो कम्पनी प्रबन्धन ने बदले की भावना में मज़दूरों को निकालना शुरू कर दिया। लेकिन मज़दूरों ने भी हार नहीं मानी है। गुड़गाँव ज़िले के लघु सचिवालय पर एक दिवसीय भूख हड़ताल रखी और चेतावनी दी अगर निकाले गये मज़दूरों को वापस नहीं लिया गया और बदले की भावना से निकालना बन्द नहीं किया गया तो संघर्ष को तीखा किया जायेगा।

नपीनो (मानेसर) के मज़दूरों की हड़ताल को कम्पनी प्रबन्धन व मज़दूर यूनियन के बीच समझौता अधिकारी की मौजूदगी में यह कहकर ख़त्म किया गया था कि 3-4 दिन में मज़दूरों को वापस ले लिया जायेगा। लेकिन बाद में काम पर वापस नहीं लिया गया उल्टा ले ऑफ़ कर दिया गया। नपीनो कम्पनी की मज़दूर यूनियन एक केन्द्रीय ट्रेड यूनियन से जुड़ी है। इलाक़े की अन्य फ़ेडरेशनों में इण्टक, सीटू, एचएमएस, एआईयूटीयूसी, व कुछ स्वतंत्र ट्रेड यूनियनें, 'ट्रेड यूनियन काउंसिल' (टी.यू.सी.) के मंच के तहत जुड़ी हुई हैं। इनके साथ गुड़गाँव, रेवाड़ी, फ़रीदाबाद तक की यूनियनें जुड़ी हैं। टी.यू.सी. के इस मंच ने हड़ताल से पहले, इसके दौरान और बाद में, अभी तक संघर्ष का कोई ऐलान नहीं किया है। बस लफ़्फ़ाज़ी करते हुए "सूझबूझ" की दुहाई देते रहे। लेकिन संघर्ष को व्यापक और जुझारू बनाने की बजाय फ़र्ज़ी बातचीत और क़ानूनी लड़ाई तक सीमित रखा हुआ है। इससे नपीनो के मज़दूरों का संघर्ष कमज़ोर होता जा रहा है और काफ़ी हद तक हो भी चुका है। इन्हीं कारणों के चलते, गुड़गाँव के मुंजाल शोवा प्लाण्ट के स्थायी मज़दूरों की छँटनी के विरुद्ध संघर्ष भी क़ानूनी लड़ाई तक सिमटकर रह गया है जबकि आन्दोलन के रास्ते को एक प्रकार से तिलांजलि दे दी गयी है।

केन्द्रीय ट्रेड यूनियनों से हटकर बेलसोनिका (मानेसर) की यूनियन समझौता पत्रों को नकारने व यूनियन अधिकारों पर बढ़ते हमलों का डटकर मुक़ाबला करने का संघर्ष तो कर रही है और साथ ही ठेका मज़दूरों के यूनियन अधिकार को लेकर प्रबन्धन से संघर्ष कर रही है, लेकिन उसका संघर्ष भी अभी कारख़ाने की चौहद्दी से प्रभावी तरीक़े से बाहर जाकर सेक्टरगत मज़दूर एकता की ओर नहीं बढ़ पा रहा है। साथ ही, व्यापक संख्या में ठेका मज़दूरों को यूनियन सदस्यता देने में कामयाब नहीं हुआ है। इसकी वजह से ठेका मज़दूरों की नौकरी भी बहुत असुरक्षित है।

इसी तरह क़रीब दो दर्जन कम्पनियों के समझौता पत्र के मामले श्रम विभाग में अटके होने के कारण एक-एक करके क़ानूनी भूलभुलैय्या में चक्कर खाकर ख़त्म होते नज़र आ रहे हैं। और इसमें भी आये दिन नये मामले जुड़ते जा रहे हैं। वहीं श्रम विभाग, प्रशासन व सरकारों की चुप्पी के विरुद्ध उठने वाली हर आवाज़ का पुलिस-प्रशासन द्वारा दमन जारी है।

2012 में मारुति सुज़ुकी से बर्ख़ास्त मज़दूरों के सभी साथियों को ज़मानत मिलने के बाद उन्होंने अपनी नौकरी बहाली की माँग को फिर से उठाया है। इसके तहत दो दिवसीय सांकेतिक भूख हड़ताल रखी गयी। इसमें **ऑटोमोबाइल इण्डस्ट्री कॉण्ट्रैक्ट वर्कर्स यूनियन** व बिगुल मज़दूर दस्ता के साथी दो दिन शामिल रहे और रात को धरने पर रुके। मज़दूरों ने चेतावनी दी कि अगर मारूति सुज़ुकी प्रबन्धन ने समय रहते हुए हमारी माँगों पर ध्यान नहीं दिया तो हम संघर्ष को अनिश्चितकालीन हड़ताल में बदल सकते हैं।

इसके अलावा, स्थायी काम के लिए स्थायी रोज़गार की माँग और मज़दूर विरोधी 4 नये मज़दूर कोडों के ख़िलाफ़ आवाज़ें भी उठ रही हैं। लेकिन आन्दोलन का विकसित होना बाक़ी है। मज़दूरों के श्रम अधिकारों का उल्लंघन इस इलाक़े में चार दशकों से जारी है। लेकिन इनके ख़िलाफ़ घोषणाओं, ज्ञापन व कुछ के दावों से कुछ ठोस शुरूआत नहीं हो पायी है। दूसरी तरफ़ औद्योगिक दुर्घटनाओं के कारण बढ़ती मौतों, अपंगता व बीमारी और दूसरी तरफ़ बढ़ती बेरोज़गारी और महँगाई के कारण बढ़ रही आत्महत्याओं, भुखमरी व कुपोषण का ग्राफ़ तेज़ी से बढ़ रहा है।

छँटनीग्रस्त मज़दूरों द्वारा नौकरी बहाली के लिए व कई-कई सालों से ठेके पर काम कर रहे ठेका मज़दूरों द्वारा स्थायी करने की माँग के लिए अब संघर्ष करने के सिवाय कोई रास्ता नहीं बचा है। इन माँगों पर श्रम विभाग व राज्य व केन्द्र सरकारों द्वारा भी हस्तक्षेप नहीं किया जा रहा है। इसकी उम्मीद करना भी बेकार ही है। उन्हें हस्तक्षेप करने के लिए समूचे ऑटोमोबाइल सेक्टर के मज़दूरों के एकजुट आन्दोलन द्वारा मजबूर किया जा सकता है।

विभिन्न कम्पनियों की यूनियनों को और तमाम ठेका मज़दूरों को केन्द्रीय ट्रेड यूनियनों की समझौतापरस्ती व क़ानूनवादी तरीक़ों के भ्रमजाल से बाहर आने की ज़रूरत है। सरकार और उसके विभागों को क़ानून लागू करवाने के लिए भी तभी बाध्य किया जा सकता है, जबकि मज़दूरों की सेक्टरगत एकता के आधार पर एक जुझारू आन्दोलन खड़ा किया जाये। तमाम केन्द्रीय ट्रेड यूनियन संघ और उनके साझा मंच साल की एक दिन की रस्मअदायगी वाली "हड़ताल" में सभी मज़दूरों से शामिल होने की बात तो ज़रूर करते हैं, मगर जहाँ वास्तविक मज़दूर संघर्षों को इन केन्द्रीय ट्रेड यूनियन फ़ेडरेशनों व उनके मंचों से हड़ताल के आह्वान या सहायता की आवश्यकता पड़ती है, वहाँ ये केन्द्रीय ट्रेड यूनियनें व उनके मंच कोई क़दम नहीं उठाते और मज़दूरों से "सूझबूझ" और "संयम" बरतने की बातें किया करते हैं। पिछले वर्षों में हम न जाने इसके कितने उदाहरण देख चुके हैं। नपीनो से स्थायी मज़दूरों के समझौता पत्र के लिए संघर्षरत मज़दूरों की शानदार हड़ताल के समर्थन में भी केन्द्रीय ट्रेड यूनियन संघों का यह रवैया देखने को मिला। ये केन्द्रीय ट्रेड यूनियनें वास्तव में संघर्षों को वस्तुगत तौर पर रोकने का ही काम करती हैं। हर वर्ष एक या दो बार, एक या दो दिवसीय सालाना हड़ताल करके मज़दूरों के ग़ुस्से पर ठण्डे पानी के छींटे मारने का काम ही करती हैं। अपने चुनावी हितों, क़ानूनी दायरे से आगे नहीं जाती हैं। ये बुरी तरह से अर्थवाद, ट्रेडयूनियनवाद का शिकार हैं। समझौतापरस्ती और मौक़ापरस्ती के चलते अब पूँजीवादी व्यवस्था व इसकी तानाशाही के आगे ये केन्द्रीय ट्रेड यूनियनें आत्मसमर्पण कर चुकी हैं, घुटने टेक चुकी हैं।

ऐसे में कुछ नये अर्थवादी नौदौलतिये मज़दूर आन्दोलन में आकर मज़दूरों का "इन्क़लाबी" केन्द्र और मज़दूरों के "सहयोग" का केन्द्र होने का दावा करके इन आन्दोलनों में अपने अराजकतावाद और अराजकतावादी संघाधिपत्यवाद की गन्द भी फैलाते हैं। वास्तव में ये वस्तुगत तौर पर आन्दोलनों को भटकाने व डुबाने का काम ही करते आ रहे हैं। ये संगठन स्वत:स्फूर्तता को आँख मूँदकर बढ़ावा देते हैं और मज़दूरों के संघर्षों को सचेतन तौर पर एक सही राजनीतिक दिशा देने के प्रयासों का विरोध करते हैं। इस प्रकार ये पूँजीपतियों और उनकी कम्पनियों के प्रबन्धन और साथ ही उनकी नुमाइन्दगी करने वाली सरकारों के समक्ष मज़दूर आन्दोलन को निरस्त्र करने का काम करते हैं। व्यवहार में ये अराजकता, लोकरंजकतावाद व मज़दूरवाद (जो कि मज़दूर वर्ग विरोधी एक पहचानवादी सोच है) को ही बढ़ावा देते हैं। साझा संघर्षों में केन्द्रीय ट्रेड यूनियनों की तरह ही ये क्रान्तिकारी शक्तियों के बारे में कुत्सा-प्रचार करते हैं और मज़दूर नेतृत्व में कानाफूसी करके अपने से असहमति और अलग राय रखने वाली यूनियनों व संगठनों के ख़िलाफ़ भड़काते हैं। ग़ैर-जनवादी तरीक़े से अपने चहेतों को मंच पर खुले हाथ से समय व जगह देते हैं। ये अतीत के आन्दोलनों से सकारात्मक व नकारात्मक शिक्षाएँ लेने के लिए किसी भी प्रकार की आलोचना को नये आन्दोलनों के मंच पर नहीं आने देते हैं, जो कि अन्तत: नये आन्दोलनों की भी असफलता का कारण बनता है। इस प्रकार के तथाकथित "इन्क़लाबी केन्द्रों" और "सहयोग केन्द्रों" से ऑटोमोबाइल सेक्टर के मज़दूरों को सावधान हो जाने की आवश्यकता है। पहले तो केवल केन्द्रीय ट्रेड यूनियनें ऑटोमोबाइल सेक्टर में मज़दूर आन्दोलनों को सीमित कर क़ानूनवाद के गोल दायरे में घुमाने का काम करती थीं और अब ये अराजकतावादी और स्वत:स्फूर्ततावादी अलग तरीक़े से मज़दूर आन्दोलनों को डुबाने में लगे हुए हैं।

ज़ाहिरा तौर पर, विभिन्न कारख़ानों के इस वक़्त बिखरे हुए नये-पुराने संघर्षों को अपनी कारख़ाने की चौहद्दी से बाहर आकर व्यापक पेशागत (सेक्टरगत) और इलाक़ाई स्तर की एकता बनानी होगी, सही राजनीतिक समझ विकसित करनी होगी और उसके आधार पर संघर्ष करना होगा।

मथुरा रिफ़ाइनरी के संविदा श्रमिक पिछले 1 सितम्बर से आन्दोलनरत हैं!

हाल ही में मथुरा रिफ़ाइनरी के 18 संविदा श्रमिकों को काम से निकाल दिया गया। रिफ़ाइनरी मैनेजमेण्ट और ठेकेदार के घृणास्पद गठबन्धन के ख़िलाफ़ मज़दूर 1 सितम्बर से ही धरने पर बैठे हैं। नये ठेकेदार ने आते ही इन श्रमिकों को काम पर से निकाल दिया था। मज़दूरों का कहना है कि खाते में आने वाले वेतन का आधा हिस्सा यदि ठेकेदार को वापस करेंगे तभी उनको काम पर रखा जायेगा। मज़दूरों द्वारा इस शर्त को न मानने के कारण उनको काम से निकाल दिया गया।

अन्य औद्यौगिक क्षेत्रों में कार्य करने वाले मज़दूरों की तरह ही मथुरा रिफ़ाइनरी में भी छँटनी की प्रक्रिया मनमाने ढंग से की जाती है। इस तरह से की जाने वाली छँटनी और ठेकेदार द्वारा काम पर से निकाले जाने के विरोध में मज़दूरों के प्रतिनिधिमण्डल से रिफ़ाइनरी मैनेजमेण्ट मिलने तक को तैयार नहीं है। निकाले गये मज़दूर रिफ़ाइनरी में तीस से भी अधिक वर्षों से कार्यरत हैं और इन्हें इस तरह बिना किसी कारण के निकाला जाना बिल्कुल अन्यायपूर्ण है।

बीते 26 अक्टूबर को निकाले गये संविदा श्रमिकों ने टाउनशिप चौराहे से टाउनशिप गेट तक चेतावनी रैली का आयोजन किया, जिसका समर्थन बिगुल मज़दूर दस्ता ने भी किया और उनके संघर्ष में हर क़दम पर रहने का आश्वासन भी दिया। इसके बाद से 'बिगुल मज़दूर दस्ता' के साथी मज़दूरों के सम्पर्क में बने हुए हैं।

यह आन्दोलन जारी है।

● बिगुल संवाददाता

हरिद्वार स्थित सिडकुल औद्योगिक क्षेत्र में हर साल बढ़ती बेरोज़गारी – क्या कर रही है सरकार?

• फ़ेबियन

हरिद्वार स्थित सिडकुल (SIIDCUL) औद्योगिक क्षेत्र का लेबर चौक दिहाड़ी मज़दूरों के रोज़गार पाने का अड्डा है। इस औद्योगिक क्षेत्र में दो लेबर चौक हैं जहाँ पर आसपास की मज़दूर बस्तियों से मज़दूर काम की तलाश में आते हैं। इन लेबर चौक पर कई प्रकार के काम करने वाले मज़दूर इकट्ठा होते हैं। मशीन चलाने वाले कुशल मज़दूर, फ़ैक्टरी में हेल्पर के तौर पर काम करने वाले, लोडिंग-अनलोडिंग करने वाले, फ़ैक्टरी के कैण्टीन में काम करने वाले, फ़ैक्टरी में सफ़ाई करने वाले, निर्माण मज़दूर, बेलदारी करने वाले मज़दूर। ठेकेदार इन्हीं लेबर चौक पर सस्ती श्रमशक्ति ख़रीदने आते हैं।

दिहाड़ी मज़दूरों की स्थिति रोज़ कुआँ खोदकर पानी पीने जैसे होती है। वे हर रोज़ सुबह 6:00 बजे से लेबर चौक पर इकट्ठा होने लगते हैं और रात की शिफ़्ट में काम के लिए शाम को 7:30 बजे से। जनवरी से बरसात के आगमन तक यानी जून महीने के पहले सप्ताह तक सिडकुल में 'दिहाड़ी सीज़न' कहलाता है। इस दौरान दोनों चौक पर हज़ारों मज़दूर रोज़गार की तलाश में आते हैं। ठेकेदार चौक पर आकर मज़दूरों से काम के प्रकार के बारें में बातचीत करता है और उस भीड़ से चुनिन्दा मज़दूरों को काम के लिए ले जाता है।

दिहाड़ी सीज़न के दौरान कुछ कामों के लिए मज़दूरों के मोलभाव की गुंजाइश थोड़ी बढ़ जाती है। बहुत मेहनत करने वाले काम के लिए जैसे लोडिंग-अनलोडिंग, निर्माण के काम और बेलदारी के काम के लिए मज़दूर 12 घण्टे के लिए रु. 600 से 700 तक की दिहाड़ी की माँग कर सकता है। लेकिन फ़ैक्टरी में मशीन चलाने के लिए, हेल्पर के काम के लिए, कैण्टीन के काम व सफ़ाई के काम के लिए रु. 400/- से रु. 500/- की दिहाड़ी मिलती है और कोई मोलभाव नहीं होता है। ठेकेदार जो रेट बोलता है वही फ़ाइनल होता है।

कई बार मज़दूरों के साथ धोखा होता है। ठेकेदार आसान काम बताकर सस्ते में मज़दूरी तय करता है, जबकि काम कठिन होता है। ऐसे में मज़दूर फँस जाता है। इस सीज़न के दौरान भी पूरे महीने काम मिलना मुश्किल होता है। फ़ैक्टरियों में कम मज़दूरों से ज़्यादा काम निकालने की नीति निरन्तरता के साथ लागू होती है। सीज़न के दौरान मज़दूरों को 22 से 23 दिन काम के मिल जाते हैं। लेकिन यह सीज़न पाँच महीने तक ही सीमित होता है।

बरसात के मौसम के आगमन के साथ ही सिडकुल औद्योगिक क्षेत्र में हर साल बेरोज़गारी का सीज़न शुरू होता है। बरसात के मौसम में उत्पादित माल के स्टॉक को रखना मुश्किल हो जाता है। ऐसे में फ़ैक्टरियाँ प्रोडक्शन कम करके मज़दूरों की छँटनी करती हैं। इस मौसम में बेरोज़गारी का दूसरा बढ़ा कारण कांवड़ यात्रा है। हर साल बरसात के मौसम में हरिद्वार में लाखों कांवड़ यात्री गंगा स्नान करने आते हैं। सरकार 15 से 20 दिनों के लिए घोषित तौर पर बड़े वाहनों के यातायात पर रोक लगाती है। इसी वजह से फ़ैक्टरियों में प्रोडक्शन बहुत कम होता है। कई फ़ैक्टरियाँ मज़दूरों को इन 15-20 दिनों के लिए बिना वेतन की छुट्टी देती हैं। घोषित रोक ख़त्म होने के बाद भी कांवड़ यात्रियों का आना जाना बरसात ख़त्म होने तक चलता रहता है। इस वजह से बड़े वाहनों का यातायात प्रभावित ही रहता है जिससे मज़दूरों को बेरोज़गारी झेलनी पड़ती है।

हरिद्वार सिडकुल में कुछ ऐसी फ़ैक्टरियाँ हैं जो सीज़न के हिसाब से चलती हैं। जैसे पँखे बनाने वाली फ़ैक्टरी का सीज़न दिसम्बर-जनवरी से लेकर जून महीने तक ही चलता है। फ़ूड इण्डस्ट्री के लिए पैकिंग मैटिरियल तैयार करने वाली फ़ैक्टरियों में भी सीज़न के हिसाब से ही उत्पादन होता है। जैसे दही और आइसक्रीम के डब्बे बनाने वाली फ़ैक्टरी। जब इन फ़ैक्टरियों का सीज़न ख़त्म होता है तब मज़दूरों की छँटनी होती है।

बेरोज़गारी का चौथा कारण हर साल ऑटोमोबाइल सेक्टर का दिसम्बर माह में मशीनों के मेण्टेनेंस का काम है। ऑटोमोबाइल सेक्टर की मुख्य कम्पनी व उसकी वेण्डर एण्ड एंसिलरी कम्पनियाँ मज़दूरों को बिना वेतन के ब्रेक देती हैं। इस समय मज़दूरों को या तो महीनेभर के लिए ब्रेक दिया जाता है या पूरे महीने में 12 से 15 दिन की ही ड्यूटी मिलती है।

हरिद्वार से लगे पश्चिमी उत्तर प्रदेश के ज़िलों में जब गेहूँ की फ़सल की कटाई पूरी होती है तब भी सिडकुल में बेरोज़गार मज़दूरों की संख्या बढ़ जाती है। कुछ मज़दूर धान की रोपनी के बाद औद्योगिक क्षेत्र की ओर प्रवास करते हैं। यह मज़दूर मुज़फ़्फ़रनगर, बिजनौर, मुरादाबाद, बरेली, शाहजहाँपुर, लखीमपुर, सीतापुर, हरदोई से आते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में खेती के काम के अलावा और कोई वैकल्पिक रोज़गार के अवसर नहीं होते हैं। इन खेतिहर मज़दूरों का गुज़ारा सिर्फ़ कृषि के कामों से नहीं हो सकता है। रोज़गार के अवसर के अभाव में वे औद्योगिक क्षेत्र की ओर प्रवास करते हैं। इसके चलते लेबर चौक पर मज़दूरों की संख्या बढ़ती है।

लेबर चौक पर मज़दूरों की संख्या में इज़ाफ़ा बिजनौर, मुज़फ़्फ़रनगर और मुरादाबाद के 10वीं, 11वीं और 12वीं के छात्रों के आने की वजह से भी होता है। इन छात्रों की गर्मियों की छुट्टी मई-जून-जुलाई में पड़ती है। उस समय वह अपने स्कूल की फ़ीस व निजी ख़र्च के लिए काम करने हरिद्वार आते हैं। यह लड़के ग़रीब परिवारों से आते हैं। वे जानते हैं कि उनके माता–पिता उनकी पढ़ाई का ख़र्च नहीं उठा पायेंगे। इसलिए वे ख़ुद उसका इन्तज़ाम करने हरिद्वार के औद्योगिक क्षेत्र में आते हैं। दिहाड़ी मज़दूरों का आधार कार्ड चेक नहीं किया जाता है और ठेकेदार जानते हुए भी इन 18 साल से कम उम्र के छात्रों को फ़ैक्टरियों में काम पर रख लेते हैं। फ़ार्मा कम्पनियों के ठेकेदार इन छात्रों की मजबूरी का फ़ायदा उठाकर उन्हें रात की ड्यूटी पर रखते हैं। उन्हें 12 घण्टे काम के लिए सिर्फ़ रु. 280/- की मज़दूरी मिलती है।

इस तरह से बेरोज़गार मज़दूरों की फ़ौज तैयार होती है। दिहाड़ी सीज़न के समय ज़्यादातर मज़दूरों को सुबह 9:30 से 10:00 बजे तक काम मिल ही जाता है लेकिन बेरोज़गारी सीज़न के समय वे दोपहर तक लेबर चौक पर ही रहते हैं कि कुछ तो काम मिल जाये! मज़दूरों का एक बड़ा हिस्सा चौक पर भीड़ देखकर सीधे फ़ैक्टरी गेट पर काम तलाशने जाता है। वे चौक पर नहीं आते हैं। इस दौरान मज़दूरों को मुश्किल से 15 दिन काम के मिल पाते हैं। नौजवान मज़दूरों को ही काम मिलना मुश्किल होता है, ऐसे में उम्रदराज़ मज़दूरों को काम खोजना बालू में तेल निकालने के समान होता है।

मज़दूरों की बढ़ती संख्या को देखते हुए फ़ैक्टरियाँ और ठेकेदार मिलकर मज़दूरी का रेट गिरा देती हैं। बेरोज़गारी के सीज़न में मशीन चलाने वाले कुशल मज़दूर व हेल्पर को 12 घण्टे के लिए रु. 300/- या रु. 350/- की ही मज़दूरी मिलती है। लोडिंग-अनलोडिंग, निर्माण व बेलदारी के काम करने वाले मज़दूर को 12 घण्टे के काम के लिए रु. 400/- की मज़दूरी मिलती है। ठेकेदारों का बातचीत का टोन भी बदल जाता है। कई फ़ैक्टरियों के ठेकेदार लेबर चौक पर नहीं जाते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि मज़दूर ख़ुद फ़ैक्टरी गेट पर रोज़गार माँगने आयेगा। मज़दूरों की संख्या बढ़ने से और काम के अवसर कम होने के चलते मज़दूर मोलभाव करने का अधिकार खो देते हैं। इस दौरान ठेकेदार जो मज़दूरी बताता है, मज़दूर को उसी रेट पर काम करने के लिए मजबूर होना पड़ता है। अगर वह काम के लिए तैयार नहीं होता है तो कोई और मज़दूर जाने के लिए तैयार हो जाता है।

खेतिहर प्रवासी मज़दूर और स्कूल के छात्र कम रेट पर काम करने के लिए तैयार हो जाते हैं। यह मज़दूर सीमित समय के लिए ही इस औद्योगिक क्षेत्र में काम करने आते हैं। स्कूल के छात्र स्कूल शुरू होने से पहले क़रीब दो महीने काम करके वापस लौटते हैं। खेतिहर मज़दूर धान की फ़सल कटने के समय वापस लैटते हैं। यानी वे चार से पाँच महीने ही काम कर पाते हैं। इसी समय सीमा में उन्हें पैसे जोड़कर वापस जाना होता है। इसलिए वे यह सोचते हैं कि कोई भी दिन ख़ाली न जाये। उन्हें बस काम मिल जाये।

वे मज़दूर जो अपनी जीविका के लिए साल के बारह महीने सिडकुल औद्योगिक क्षेत्र पर निर्भर रहते हैं, देखते हैं कि उनकी मोलभाव करने की क्षमता ख़त्म हो जाती है और मज़दूरी भी कम हो जाती है। वे इसके लिए उन खेतिहर मज़दूरों व स्कूल छात्रों को दोषी मानते हैं। वे मज़दूर यह नहीं समझ पाते कि इन मज़दूरों को सीमित समय में पैसे जोड़कर वापस लौटना होता है। इस मजबूरी के चलते वे ठेकेदार द्वारा तय रेट बिना मोलभाव किये तुरन्त मान लेते हैं। इस परिस्थिति को पूँजीवादी व्यवस्था ने पैदा किया है। इसके लिए कोई मज़दूर ज़िम्मेदार नहीं है। मज़दूरों को यह समझना होगा कि पूँजीवादी व्यवस्था बेरोज़गार लोगों की फ़ौज तैयार करती है और मज़दूरों को मजबूर करती है कि वह कम मज़दूरी में ज़्यादा काम करें। अगर ऐसा नहीं है तो निम्नलिखित सवालों के जवाब खोजिए!

ज्वलन्त प्रश्न यह है कि बरसात के आगमन पर हर साल आने वाले इस बेरोज़गारी सीज़न से निपटने के लिए सरकार क्या क़दम उठाती है? मज़दूरों को बेरोज़गारी की मार से बचाने के लिए सरकार कौन सी नीति या कल्याणकारी योजना लागू करती है? क्या सरकार हरिद्वार स्थित सिडकुल क्षेत्र में काम करने वाले मज़दूरों का पंजीकरण करती है? इस औद्योगिक क्षेत्र में बहुसंख्यक मज़दूर प्रवासी हैं। क्या सरकार श्रम विभाग द्वारा कोई प्रवासी मज़दूर सेल या ब्यूरो चलाती है जो प्रवासी मज़दूरों का पंजीकरण करें व उनकी समस्याओं का समाधान करें? हरिद्वार सिडकुल में कुल कितने मज़दूर काम करते हैं और बेरोज़गारी के सीज़न में कितने मज़दूर बेरोज़गार होते हैं, क्या सरकार के पास इसका कोई आँकड़ा है? क्या सरकार मज़दूरों को बेरोज़गारी भत्ता देने की कोई योजना लागू करती है? बेरोज़गार मज़दूरों के लिए क्या सरकार राशन, गैस सिलेण्डर, कमरे का किराया आदि बुनियादी ज़रूरतों के लिए कोई कल्याणकारी योजना लागू करती है? सरकार कांवड़ यात्रा के प्रबन्धन में करोड़ों रुपये ख़र्च करती है, लेकिन क्या सरकार उस दौरान मज़दूरों को बिना वेतन ब्रेक मिलने पर फ़ैक्टरियों को वेतन देने के लिए बाध्य करती है? मशीन मेण्टेनेंस के चलते फ़ैक्टरियाँ मज़दूरों को जो बिना वेतन के ब्रेक देती हैं, क्या सरकार उन्हें वेतन देने के लिए बाध्य करती है? क्या सरकार स्कूल छात्रों के लिए कोई कल्याणकारी योजना लागू करती है ताकि उन्हें कम उम्र में स्कूली शिक्षा के दौरान काम न करना पड़े? क्या सरकार श्रम क़ानूनों को सख़्ती के साथ लागू करती है ताकि फ़ैक्टरी मैनेजमेण्ट और ठेकेदार मज़दूरों का अधिकार न मारें?

यह बात दिन के उजाले के समान साफ़ है कि ऊपर पूछे गये सवालों के जवाब हैं – नहीं! अगर सरकार मज़दूरों के पक्ष में ऐसे कोई क़दम नहीं उठा रही है तो इसका मतलब साफ़ है कि यह पूँजीवादी व्यवस्था ख़ुद बेरोज़गार मज़दूरों की फ़ौज तैयार कर रही है ताकि औद्योगिक पूँजीपति वर्ग सस्ते में मज़दूरों की श्रमशक्ति ख़रीदकर अपने मुनाफ़े की दर को बढ़ा सकें।

मज़दूर अपने कमज़ोर वर्गीय दृष्टिकोण के चलते मज़दूरी कम होने के कारणों के लिए अपने ही वर्ग के मज़दूरों को दोषी मानते हैं। वह यह नहीं समझ पाते कि यह व्यवस्था औद्योगिक पूँजीपति वर्ग की सेवा में बेरोज़गारों की फ़ौज तैयार करती है। सरकार मज़दूरों को बेरोज़गारी से बचाने के लिए कोई ठोस योजना नहीं लेती है। वह श्रम क़ानून भी सख़्ती से लागू नहीं करती है और श्रम क़ानूनों में इस परिस्थिति से निपटने के लिए कोई बदलाव भी नहीं करती है।

आज इस चुनौतियों से भरे दौर में मज़दूरों को अपने वर्गीय दृष्टिकोण को दुरुस्त करना होगा। मज़दूर वर्ग को अपने दुश्मन पूँजीपति वर्ग और अपने मित्र वर्गों को पहचानना होगा! आज पूँजीवादी व्यवस्था द्वारा विभिन्न तरीक़ों से मज़दूरों के बीच उनकी एकता को तोड़ने के लिए बहुत-सी दीवारें खड़ी कर दी गयी हैं – जाति-धर्म से लेकर रोज़गार-बेरोज़गार, पर्मानेण्ट मज़दूर-ठेका मज़दूर, दिहाड़ी मज़दूर, पीस रेट आदि। इन सबके बावजूद मज़दूरों को अपनी राजनीतिक समझदारी उन्नत करते हुए अपनी वर्गीय एकजुटता क़ायम करनी होगी। अपने औद्योगिक क्षेत्र में नये सिरे से पेशागत व इलाक़ाई पैमाने पर एकजुट होकर अपने हक़ और अधिकारों की लड़ाई लड़नी होगी।

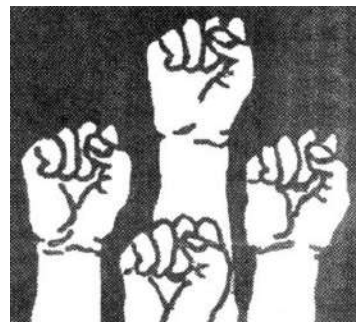

वैश्विक भूख सूचकांक रिपोर्ट-2022 : मोदी के "रामराज्य" में भूखा सोता हिन्दुस्तान

● अविनाश

"जिस धरती पर हर अगले मिनट एक बच्चा भूख या बीमारी से मरता हो, वहाँ पर शासक वर्ग की दृष्टि से चीज़ों को समझने की आदत डाली जाती है। लोगों को इस दशा को एक स्वाभाविक दशा समझने के लिए प्रशिक्षित किया जाता है। लोग व्यवस्था को देशभक्ति से जोड़ लेते हैं और इस तरह से व्यवस्था का विरोधी एक देशद्रोही अथवा विदेशी एजेण्ट बन जाता है। जंगल के क़ानूनों को पवित्र रूप दे दिया जाता है ताकि पराजित लोग अपनी हालत को अपनी नियति समझ बैठें।"

– एदुआर्दो ग़ालियानो
(उरुग्वे के विश्वप्रसिद्ध लेखक)

हाल ही में आयी वैश्विक भूख सूचकांक रिपोर्ट-2022 ने एक बार फिर मोदी सरकार के विकास के दावे से पर्दा उठा दिया है। रिपोर्ट के मुताबिक़ भुखमरी के मामले में दुनियाभर के 121 देशों में भारत 107वें पायदान पर है। भारत को उन देशों की सूची में शामिल किया गया है जहाँ भुखमरी की समस्या बेहद गम्भीर है। भारत की रैंकिंग साउथ एशिया के देशों में केवल अफ़ग़ानिस्तान से बेहतर है, जो तालिबानी क़हर झेल रहा है। उभरती हुई अर्थव्यवस्था, 5 ट्रिलियन इकॉनामी आदि के कानफाड़ू शोर के पीछे की असली सच्चाई यह है कि भुखमरी और कुपोषण के मामले में भारत अपने पड़ोसी देश श्रीलंका, पाकिस्तान, नेपाल से तुलनात्मक रूप से बेहद ख़राब स्थिति में है। इस मामले में भारत युद्ध विभीषिका झेल रहे कुछ देशों और साम्राज्यवादी लूट का अड्डा बने अफ़्रीका के देशों से ही तुलनात्मक रूप से बेहतर स्थिति में है। पिछले साल की रिपोर्ट के मुताबिक़ भारत 116 देशों की सूची में 101वें स्थान पर था।

क्या होता है वैश्विक भूख सूचकांक?

जर्मनी की ग़ैर-सरकारी संस्था 'वेल्ट हंगर हिल्फ़' और आयरलैण्ड की ग़ैर-सरकारी संस्था 'कन्सर्न वर्ल्डवाइड' हर साल चार मानकों – कुपोषण, बाल मृत्यु दर, उम्र के हिसाब से वज़न कम होना और उम्र के हिसाब से लम्बाई कम होना के आधार पर दुनियाभर में भुखमरी के हालात पर रिपोर्ट जारी करता है जिसे ग्लोबल हंगर इण्डेक्स कहा जाता है।

मोदी सरकार की बेशर्मी और ज़मीनी सच्चाई

पिछले सालों की तरह मोदी सरकार इस बार भी बेशर्मी से इस रिपोर्ट को ही झुठलाने में लग चुकी है। देश को भुखमरी, कुपोषण, बेरोज़गारी के दलदल में धकेलकर मोदी सरकार बेशर्मी से रिपोर्ट को भारत की छवि ख़राब करने वाला बता रही है। हर इन्साफ़पसन्द नागरिक जानता है कि कोरोना महामारी के बाद करोड़ों लोग बेरोज़गार हो गये और आज भी नौकरी की तलाश में दर-दर भटकने को मजबूर हैं। रेहड़ी-खोमचा लगाने वाली करोड़ों की आबादी जो लॉकडाउन में उजड़ गयी थी अब भी भूख की विभीषिका झेल रही है। पूँजीवादी व्यवस्था की आम गतिकी ही ऐसी होती है कि यह समाज के मुट्ठीभर धनकुबेरों के लिए ऐय्याशी, और सुख सुविधाओं की मीनार खड़ी करती है तो वहीं दूसरी ओर बहुसंख्यक मेहनतकश आबादी के हिस्से से रोटी-दाल भी दूर करती जाती है। एक तरफ़ मोदी सरकार की कृपा से गौतम अडानी दुनिया के दूसरे सबसे अमीर शख़्स बन गये हैं, तो वहीं दूसरी ओर इण्डियन काउंसिल ऑफ़ मेडिकल रिसर्च (आईएमआरसी) की रिपोर्ट के मुताबिक़ भारत में आज भी कुपोषण से पाँच साल से कम आयु के 68.2% बच्चों की मौत हो जाती है। भारत में पैदा होने वाला हर चौथा बच्चा जन्म के समय कम वज़न का होता है। हालत का अन्दाज़ा इस बात से लगाया जा सकता है कि कुपोषण की वजह से बच्चों में अपनी उम्र की तुलना में विकास की दर 39.3 प्रतिशत रही है। रिपोर्ट के अनुसार 32.7 प्रतिशत बच्चे कम वज़न से पीड़ित थे। जबकि 59.7 प्रतिशत आयरन की कमी से पीड़ित पाये गये। देशभर में 15 साल से लेकर लेकर 49 साल तक की स्त्रियों में से 54.4% एनीमिया से पीड़ित हैं। आम तौर पर पूँजीवादी तर्कों से लैस मध्यवर्ग भुखमरी महाँगाई बेरोज़गारी आदि समस्यओं के लिए जनसंख्या को ज़िम्मेदार बताता है। ग्लोबल हंगर इण्डेक्स की यह रिपोर्ट इस दावे की भी पोल खोल देती है। इस रिपोर्ट के मुताबिक़ दुनिया के सबसे अधिक जनसंख्या वाले देश, चीन में भुखमरी न के बराबर है और वह भी उसके समाजवादी अतीत का ही नतीजा है। इन आँकड़ों की रोशनी में देखा जाये तो फ़ासीवादी मोदी सरकार की लफ़्फ़ाज़ी खुल के सामने आ जाती है।

हर सरकारी और ग़ैर-सरकारी रिपोर्ट देश की बदतर होती स्थिति की गवाही दे रही है। पूरी सभ्यता का भार अपने कन्धों पर उठाने वाले मेहनतकशों के पेट ख़ाली हैं। इस रिपोर्ट ने एक बार फिर दिखला दिया है कि पूँजीवादी व्यवस्था मेहनतकशों को भूख-कुपोषण, असुरक्षा के अलावा कुछ और नहीं दे सकती है।

बढ़ती महँगाई के ख़िलाफ़ फ़्रांस की जनता उतरी सड़कों पर

● शुभम

अक्टूबर महीने में फ़्रांस ने मज़दूरों की कई हड़तालें देखीं। अनुपात में ये हड़तालें इसी साल हुई मार्च और जनवरी की हड़तालों से कई गुना बड़ी थीं। इन हड़तालों की वजह फ़्रांस में लगातार बढ़ती महँगाई है जिसने एक तरफ़ तो वहाँ के पूँजीपति वर्ग को अकूत मुनाफ़ा कूटने का अवसर दिया है वहीं दूसरी तरफ़ मेहनतकश जनता की कमर तोड़ रखी है। फ़्रांस की मेहनतकश आबादी भयानक महँगाई से जूझ रही है, जो कि लगातार तीव्र हो रहे पूँजीवादी संकट का ही नतीजा है, जिसे ब्रुसेल्स की नौकरशाही की नीतियाँ और भी तीखा करने का काम कर रही हैं जो यूक्रेन में रूस के साथ संयुक्त राज्य अमेरिका के असफल आर्थिक और छद्म सैन्य युद्ध को तेज़ करने पर तुली हुई है।

पिछले महीने में हुई हड़तालों में सबसे प्रमुख 18 तारीख़ की हड़ताल रही जिसने पूँजीवादी मीडिया को भी इसे कवर करने पर मजबूर कर दिया। 18 अक्टूबर को हुई ये हड़ताल तब अस्तित्व में आयी जब फ़्रांस के मज़दूरों की एक यूनियन सी.जी.टी. ने तेल की कम्पनी 'टोटल एनर्जीस' के साथ हुई अन्य दो यूनियनों, CFDT और CFE-CGC की वेतन बढ़ोत्तरी की वार्ता में बैठने से इन्कार किया और जब कम्पनी तथा ये यूनियनें वेतन में 7 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी के समझौते पर राज़ी हुईं तो सी.जी.टी. ने इसे नकारा और वेतन में 10 प्रतिशत के इज़ाफ़े की माँग के साथ बड़े स्तर पर मज़दूरों को हड़ताल में शामिल होने का आह्वान किया।

इस आह्वान के साथ मज़दूर बड़ी संख्या में सड़कों पर उतरे और फ़्रांस के अलग-अलग शहरों में डेढ़ सौ से ज़्यादा विरोध प्रदर्शन किये गये। सी.जी.टी. के अनुसार इन प्रदर्शनों में तीन लाख से ज़्यादा मज़दूरों ने भागीदारी की। अकेली, फ़्रांस की राजधानी, पेरिस में हुए प्रदर्शन में सत्तर हज़ार मज़दूर शामिल हुए। **क्रय क्षमता, वेतन बढ़ोत्तरी, काम की परिस्थितयाँ, हड़ताल का अधिकार, वोकेशनल उच्च विद्यालयों में सुधार का विरोध** इत्यादि, ये सारी माँगे इन प्रदर्शनों में मुख्य मुद्दा बनी रहीं। इसके साथ ही नौजवानो-छात्रों ने भी बढ़-चढ़कर इन प्रदर्शनों में भागीदारी की, वे रिफ़ाइनरी उद्योग के मज़दूरों के समर्थन में सड़कों पर उतरे, राजधानी पेरिस में उच्च विद्यालयों को बन्द करवाया, शिक्षा व्यवस्था में हो रहे संशोधनों के ख़िलाफ़ जमकर प्रदर्शन किया।

बताते चलें कि फ़्रांस में अगस्त और सितम्बर महीने से ही तेल उद्योग और परमाणु ऊर्जा संयंत्रों की कम्पनियों में कई मज़दूर सम्मानजनक वेतन की माँग को लेकर हड़ताल पर बैठे हुए थे। ये हड़तालें भी CGT के बैनर तले ही चल रही थीं। मज़दूरों के द्वारा काम रोककर हड़ताल पर बैठने से फ़्रांस के कई शहरों में ऊर्जा की आपूर्ति ठप्प होने से मैक्रॉन (फ़्रांस के राष्ट्रपति) सरकार के मंत्री और वहाँ का मीडिया बौखलाये हुए थे और लगातार इन जायज़ माँगो को लेकर की गयी हड़तालों को बदनाम करने की कोशिश करते रहे। वे लगातार देश में 'अनुशासन' लाने की बात करते रहे (क्योंकि पूँजीवादी राज्यों के लिए मज़दूरों का ख़ून चूसकर मुनाफ़े के महल खड़े करते जाना ही अनुशासन है और मज़दूरों द्वारा इस लूट के ख़िलाफ़ एक भी आवाज़ उठाना अराजकता!)। 29 सितम्बर तक ही हड़तालों में शामिल मज़दूरों की संख्या दस लाख पहुँच चुकी थी! और जहाँ कहीं भी कम्पनियों का घेराव किया जा रहा था वहाँ वेतन बढ़ोत्तरी की माँग और वर्ग संघर्ष ही वाद विवाद के मुख्य मुद्दे बने हुए थे। इतने बड़े स्तर पर हुई लामबन्दी से सरकार और कम्पनियों के मालिक बुरी तरह से ख़ौफ़ खाये हुए थे और अन्त में उन्होंने उन क़ानूनों का इस्तेमाल करने का फ़ैसला लिया जो मज़दूरों से हड़ताल का अधिकार छीन लेता है और उन्हें कम्पनियों में वापस बुलाने पर मजबूर करता है। लेकिन इसके बावजूद CGT यूनियन ने मोर्चे पर डटे रहने और किसी भी तरह की क़ानूनी अड़चन से कोर्ट में ही निपटने का फ़ैसला लिया।

इसके बाद फ़्रांस के परिवहन, स्वास्थ्य, शिक्षा इत्यादि पेशों से जुड़े मज़दूर विभिन्न उद्योगों के मज़दूरों द्वारा चलायी जा रही लम्बी हड़ताल के समर्थन में और एक अच्छे जीवन के लिए संघर्ष करते हुए सड़कों पर उतरे और हड़तालों में शामिल हुए। रूस-यूक्रेन युद्ध और उससे पहले कोरोना महामारी के दौरान लगातार अपनायी गयी पूँजीपरस्त नीतियों के कारण ही आज फ़्रांस की जनता को खाद्य क़ीमतों में 8 प्रतिशत, यातायात में 15 प्रतिशत, ऊर्जा में 22 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी दर और लगातार बदतर होती जीवन परिस्थितियों की मार झेलनी पड़ रही है। पर इसके बावजूद पूँजीपतियों के मुनाफ़े में कोई कमी नहीं आयी है बल्कि उल्टे उनका मुनाफ़ा और भी बढ़ा है जिससे लोगो में काफ़ी ग़ुस्सा है। वहीं मैक्रॉन सरकार पूरी बेशर्मी के साथ मज़दूर विरोधी नीतियाँ लागू करने में लगी हुई है और जनता से उनके रहे सहे अधिकार भी छीने जा रही है।

फ़्रांस की जनता की लामबन्दी और उनके संघर्ष को भारत के हम मज़दूरों को सलाम करना चाहिए और उनसे सीख लेनी चाहिए जो एक बेहतर ज़िन्दगी के लिए डटकर पूँजीपतियों और उनकी सरकार के ख़िलाफ़ खड़ी है। जुझारू, सेक्टरगत यूनियनों का महत्व, ट्रेड यूनियन में राजनितिक शिक्षा-दीक्षा और भारतीय परिस्थितयों के अनुसार अन्य ज़रूरतों को आज पूरा करने की पहले से कहीं ज़्यादा ज़रूरत है। भारत में तो हालात इतने बदतर हैं कि शीर्ष के 15 प्रतिशत को छोड़ दें तो कोई भी महाँगाई और बेरोज़गारी, ख़स्ताहाल स्वास्थ्य और शिक्षा की मार से अछूता नहीं है पर फिर भी मज़दूरों द्वारा हाल में जुझारू तरीक़े से लड़े गये संघर्ष कुछ गिनती में ही हैं। ऐसे में ज़रूरत है आज ऐसी इन्क़लाबी यूनियनें खड़ी करने की जो समय आने पर एक लम्बा संघर्ष लड़ने को तैयार रहें। हमें ये बात गाँठ बाँध लेनी होगी कि अब हालात किसी भी तरह सुधरने वाले नहीं हैं और अगर हम अपना और अपने बच्चों का सुनहरा भविष्य देखना चाहते हैं तो मिलकर एक लम्बी लड़ाई लड़नी ही होगी।

राज्यसत्ता के संरक्षण में आज़ाद घूमते हत्यारे, दंगाई!
निर्दोष प्रदर्शनकारियों का दमन-उत्पीड़न बदस्तूर जारी!

(पेज 1 से आगे)

है कि इस रिपोर्ट को आने में क़रीब-क़रीब तीन साल का वक़्त लग गया। मगर शायद ही कोई इन्साफ़पसन्द व्यक्ति इस बात को भूल सकता है कि किसी भी दंगे के समान दिल्ली में हुआ दंगा कोई अनायास हुई घटना नहीं थी। सीएए और एनआरसी के विरोध में उठ खड़े हुए देशव्यापी आन्दोलन से भाजपा सरकार बुरी तरह बौखलायी हुई थी। अपने तमाम हथकण्डों के ज़रिए नागरिकता क़ानून विरोधी आन्दोलन को दबा पाने में असफल फ़ासीवादी मोदी सरकार के पास साम्प्रदायिक दंगे भड़काने के अलावा और कोई विकल्प नहीं बचा था। कपिल मिश्रा से लेकर अनुराग ठाकुर, प्रवेश वर्मा, रागिनी तिवारी जैसे भाजपा व उसके अनुषंगी संगठनों के नेताओं ने बाक़ायदा अपने साम्प्रदायिक भाषणों के ज़रिए भीड़ को हिंसा के लिए उकसाया था।

पुलिस अधिकारियों के सामने दिये जाने वाले भड़काऊ भाषणों के पर्याप्त प्रमाण मौजूद होने के बाद भी दिल्ली पुलिस ने इनके ख़िलाफ़ कोई कार्रवाई नहीं की। शायद दिल्ली पुलिस की परिभाषा में "देश के ग़द्दारों को, गोली मारो सालों को!" का नारा हिंसक है ही नहीं?

यह पहली बार नहीं है जब फ़ासीवादी ताक़तों ने हिंसा व आतंक के ज़रिए अल्पसंख्यक समुदाय पर अपना प्रभुत्व और आतंक स्थापित करने की कोशिश की है।

भाजपा और संघ द्वारा प्रायोजित उत्तर-पूर्वी दिल्ली के दंगों ने न सिर्फ़ फ़ासीवादी ताक़तों के बर्बर चेहरे को बेपर्द किया बल्कि दिल्ली में बैठी केजरीवाल सरकार की असलियत भी उद्घाटित की है।

आम आदमी पार्टी की सरकार ने कभी भी ग़रीब-मेहनतकश विरोधी सीएए-एनआरसी क़ानून पर अपना पक्ष खुलकर नहीं व्यक्त किया। दंगो की आग में जब आम लोगों की बस्तियाँ जल रही थीं तब ख़ुद को "आम आदमी के हितैषी" बताने वाले केजरीवाल और उसके तमाम नेता-मंत्री अपने महलों में आराम फ़रमा रहे थे। 24 फ़रवरी 2020 को कुछ मुस्लिम सामाजिक कार्यकर्ताओ ने अरविन्द केजरीवाल से मिलकर यह अपील की थी कि अगर 'आप' के सभी नेता-मंत्री उत्तर-पूर्वी दिल्ली के दंगा प्रभावित इलाक़ों में आकर इस साम्प्रदायिकता की आग को कम करने का काम करें तो उनकी मौजूदगी और सुरक्षा बलों की तैनाती से हिंसा को कम किया जा सकता है। लेकिन इस पार्टी के एक नेता-मंत्री तक ने यह करना मुनासिब नहीं समझा। ये नक़ाबपोश प्रतिक्रियावादी दिखावे की नौटंकी से यहाँ भी नहीं चूके और 25 फ़रवरी को केजरीवाल कुछ नेताओं को लेकर राजघाट पर शान्ति की अपील करने पहुँचे।

यह कहना बिल्कुल भी अतिशयोक्ति नहीं होगी कि दिल्ली में सत्तासीन आम आदमी पार्टी भाजपा की बी टीम है। इनकी धुर-दक्षिणपन्थी लोकरंजक राजनीति ने सिर्फ़ और सिर्फ़ संघी फ़ासिस्टों की जातिवादी-साम्प्रदायिक प्रतिक्रियावादी राजनीति को मज़बूत करने का ही काम किया है।

रिपोर्ट में आगे दिल्ली पुलिस की दंगाइयों के साथ संलिप्तता को प्रमाणों के साथ लिखा गया है। देश की राजधानी दिल्ली में "सुरक्षा के लिए प्रतिबद्ध" दिल्ली पुलिस के रहते हुए तीन दिनों तक मुसलमानों के घर जलाये जाते हैं, उनका क़त्लेआम जारी रहता है! मज़दूरों-छात्रों के प्रदर्शन को कुचलने के लिए सैकड़ो-हज़ारों की संख्या में उतरने वाली पुलिस बल और पैरामिलिट्री की फ़ौज उत्तर-पूर्वी दिल्ली में हो रहे इस दंगे के समय किन तहख़ानों में जा छुपी थी? क्या इस बर्बरता को रोका नहीं जा सकता था?

शान्ति, सेवा और न्याय के लिए "सक्रिय" दिल्ली पुलिस ने दंगो को रोकने की कोई कोशिश नहीं की, उल्टा दंगाइयों के साथ मिलकर अल्पसंख्यक समुदाय के ख़िलाफ़ नफ़रत और हिंसा भड़काने का काम किया।

रिपोर्ट के अनुसार "24 फ़रवरी को, पुलिस की दंगाइयों के साथ मिलीभगत के कई उदाहरण सामने आये : चांदबाग़ में प्रदर्शन स्थल पर हमला करने वाली भीड़ के साथ पुलिस को देखा गया था; कर्दमपुरी में सीएए विरोधी प्रदर्शनकारियों के तम्बू पर आँसू गैस के गोले छोड़ते हुए दिल्ली पुलिस दिखती है; यमुना विहार में एक मुस्लिम युवक की दुकान पर पथराव और तोड़फोड़ करने वाली भीड़ को बढ़ावा देते हुए दिल्ली पुलिस को देखा जाता है। दिल्ली पुलिस की साम्प्रदायिक मानसिकता और स्पष्ट हो जाती है जब फ़ैज़ान और चार अन्य मुस्लिम युवकों पर सार्वजनिक रूप से इन वर्दीधारी गुण्डों द्वारा हमला किया जाता है। 25 फ़रवरी को बृजपुरी के मस्जिद के उपासकों और मुअज्जिन को बर्बरता से पीटने के साक्ष्य और वीडियो फ़ुटेज मौजूद हैं। मगर इन साक्ष्यों और प्रमाणों के बावजूद हत्यारे और दंगाई आज़ाद घूम रहे हैं। कपिल मिश्रा, अनुराग ठाकुर, रागिनी तिवारी, प्रवेश वर्मा को भड़काऊ भाषणों के लिए न जाँच-पड़ताल के लिए बुलाया गया न ही कोई कार्रवाई की गयी।"

यह बात बिल्कुल साफ़ है कि दिल्ली पुलिस ने यह सब केन्द्र सरकार और गृह मंत्रालय के आदेश पर न सिर्फ़ होने दिया बल्कि दंगो के लिए माहौल तैयार करने और उसे बढ़ाने का काम भी किया। जहाँ एक तरफ़ दोषियों, हत्यारों को संरक्षण मुहैया कराया गया वहीं दूसरी तरफ़ लॉकडाउन का फ़ायदा उठाते हुए दिल्ली दंगो की जाँच के नाम पर सामाजिक कार्यकर्ताओं, अल्पसंख्यक समुदाय के नौजवानों, शिक्षकों-बुद्धिजीवियों को प्रताड़ित किया गया। झूठे मुक़दमे तैयार किये गये जिसके तहत सभी बेगुनाह सामाजिक कार्यकर्ताओं, मुस्लिम युवकों, प्रदर्शनकारियों को गिरफ़्तार किया गया और उन्हें सलाख़ों के पीछे भेजा गया। ढाई वर्ष से अधिक से ऐसे हज़ारों इन्साफ़पसन्द लोग बिना किसी जुर्म के सज़ा काट रहे हैं। दिल्ली पुलिस द्वारा दर्ज दो एफ़आईआर 59/20 और 49/20 को देखें तो एफ़आईआर नम्बर 59 में शिकायतकर्ता सब-इंस्पेक्टर अरविन्द कुमार ने आरोप लगाया है कि उनके "एक मुख़बिर" ने उन्हें खुलासा किया कि साम्प्रदायिक दंगे कराने की साज़िश जेएनयू के पूर्व छात्र उमर ख़ालिद और उनके दोस्तों ने रची थी मगर उसमें वह आरोपियों के ख़िलाफ़ कोई ठोस सबूत नहीं दे पाते हैं। पुलिस ने चार्जशीट में नामज़द 15 आरोपियों के मोबाइल डेटा और व्हाट्सऐप चैट रिकॉर्ड को आधार बनाकर उन्हें गिरफ़्तार किया मगर अब तक भी दंगों में उनकी भूमिका को साबित नहीं कर पायी है और इसलिए यूएपीए जैसे काले क़ानून का इस्तेमाल कर छात्रों, अल्पसंख्यक समुदाय से आने वाले युवकों, सामाजिक कार्यकर्ताओं को दो साल से अधिक से जेलों में बन्द रखा गया है। यह बात अब सर्वविदित है कि असल दंगाइयों को बचाने के लिए जाँच के नाम पर पुलिस ने फ़र्ज़ी एफ़आईआर तैयार किये, सन्दिग्ध गवाहों के बयान इकट्ठा किये, झूठे सबूत पेश करके नागरिकता क़ानून विरोधी आन्दोलन में शामिल लोगों को फँसाने का काम किया और दंगो को प्रायोजित करने वाले, समाज में नफ़रत फैलाने वाले दंगेबाज़ों को बचाया जिसकी वजह से उनकी नफ़रती मुहिम आज पहले से भी अधिक घृणित रूप में जारी है। यह बात भी बिल्कुल साफ़ है कि न्यायपालिका भी इस मसले में केन्द्र सरकार की कठपुतली का ही काम कर रही है। कोई सबूत न होने के बावजूद भी हर बार अदालतों में सभी आरोपियों की ज़मानत याचिकाओं को ख़ारिज किया जाता रहा है। संक्षेप में कहें तो दिल्ली में हुआ यह दंगा साफ़ तौर पर राज्य द्वारा प्रायोजित था।

बहरहाल, यह अचरज की बात नहीं है जब किसी फ़ासीवादी सरकार ने अपनी नीतियों का विरोध करने वालों को कुचलने के लिए पुलिस, कोर्ट से लेकर तमाम हथकण्डों का इस्तेमाल किया है। हमारे मुल्क में बैठी फ़ासीवादी ताक़तें भी अपने जर्मनी और इतालवी पुरखों से सीखते हुए उनकी ही कार्यपद्धति को लागू कर रही हैं।

दंगों से लेकर सड़कों पर की जाने वाली हिंसा, पुलिस, सेना और मीडिया का फ़ासीवादीकरण, कोर्ट-कचहरी की खुलेआम धज्जियाँ उड़ाते हुए आतंकवादी गतिविधियों को अंजाम देना, अल्पसंख्यकों को निशाना बनाना और सभी तरह के राजनीतिक विरोध को कुचलने का काम भाजपा और संघ परिवार कर रहे हैं। दमन के ज़रिए अपने राजनीतिक विरोधियों को चुप कराने का फ़ासिस्टों का सपना कुछ और नहीं बल्कि शेख़चिल्ली का ही सपना साबित होगा। कहने की ज़रूरत नहीं है कि दमन-उत्पीड़न अपनी नैसर्गिक प्रक्रिया में जनता के प्रतिरोध को जन्म देता ही है।

गाम्बिया में कफ़ सिरप से 69 बच्चों की मौत
दवा सप्लाई करने वाली हत्यारी कम्पनी भारतीय है!

• विवेक

मरियम कुयतेह, मरियम सिसावो, इसातु चाम गाम्बिया में रहने वाले उन कुछ लोगों के नाम हैं, जिन्होंने अपने मासूम बच्चों को ख़राब गुणवत्ता की दवा के कारण खो दिया। बीते माह पश्चिमी अफ़्रीका के देश गाम्बिया में 69 मासूम बच्चों की मौत की ख़बर आयी, मरने वाले बच्चों में 70 फ़ीसदी बच्चे 2 साल से कम उम्र के थे। सर्दी-ज़ुकाम की शिकायत के उपरान्त इन तमाम अभिभावकों ने अपने बच्चों को वहाँ के बाज़ारों मे उपलब्ध भारत में निर्मित कफ़ सिरप दिये थे, जिसके सेवन के बाद बच्चों की तबीयत और भी बिगड़ने लग गयी व उनकी मौत हो गयी। गाम्बिया की जनता में इस बात को लेकर रोष है, वे न्याय की माँग कर रहे हैं। ज्ञात हो कि गाम्बिया में स्वास्थ्य सुविधाएँ अल्प विकसित हैं, दवाओं के लिए भी यह देश अन्य देशों से आयात पर ही निर्भर है। भारत भी गाम्बिया में दवाओं का मुख्य निर्यातक है। पश्चिमी अफ़्रीका में बसे गाम्बिया में मूलभूत सुविधाओं का घोर अभाव है। स्वास्थ्यगत सेवाओं व दवाइयों के लिए गाम्बिया दूसरे देशों से आयात पर ही निर्भर है। हालात यह हैं कि गाम्बिया के पास इन आयातित दवाइयों की गुणवत्ता जाँचने के लिए प्रयोगशालाएँ भी नहीं हैं। सम्भवत: इसी बात का फ़ायदा दवा उत्पादकों द्वारा उठाया जाता है।

डबल्यूएचओ द्वारा की गयी शुरुआती जाँच के उपरान्त यह बात पता चली कि इन मौतों के पीछे भारत में उत्पादित कफ़ सिरप हैं। प्रोमेथजीन ओरल सोल्यूशन, कोफ़ेक्समलीन बेबी कफ़ सिरप, मकोफ़ बेबी कफ़ सिरप और मगरीप एन कोल्ड सिरप नामक दवाइयाँ जो भारत में स्थित मेडन फ़ार्मास्युटिकल नाम की कम्पनी बनाती है, डबल्यूएचओ ने अपनी शुरुआती जाँच रिपोर्ट में इन्हीं दवाओं को बच्चों की मौत का कारण पाया है। इस रिपोर्ट के मद्देनज़र इन चारों दवाओं की बिक्री पर रोक लगा दी गयी है। इस घटना के कारण अपने ऊपर पड़ रहे दबाव को देखते हुए भारत सरकार ने इस मसले पर जाँच का आश्वासन देकर अपना पल्ला झाड़ने की कोशिश की है।

लागत घटाने के लिए दवा उत्पादकों द्वारा सस्ते व विषाक्त यौगिकों का दवाओं में इस्तेमाल लोगों के जीवन से खिलवाड़ है!

डब्ल्यूएचओ की रिपोर्ट के अनुसार इन दवाइयों में डाई एथिलीन ग्लाइकोल और एथिलीन ग्लाइकोल जैसे विषाक्त यौगिकों का इस्तेमाल किया गया है। ख़ुद भारत में ऐसे विषाक्त यौगिकों के प्रयोग पर मनाही है। ये यौगिक दवाइयों के लिए विलयक के तौर पर प्रयोग किये जाते हैं। चूँकि ये यौगिक सस्ते हैं, इसलिए ये कम्पनियाँ लागत घटाने के लिए इनका प्रयोग करती हैं, इससे ये लागत पर ज़्यादा मुनाफ़ा कमा पाती हैं।

डब्ल्यूएचओ के अनुसार इन दो यौगिकों के सेवन से बदन दर्द, उल्टी, डायरिया हो सकता है, साथ ही इससे मस्तिष्क व किडनी पर भी बुरा असर पड़ता है, अगर ज़्यादा मात्रा में इन यौगिकों का सेवन किया गया तो किडनी फ़ेल्योर होने से मृत्यु भी हो सकती है। बच्चों के लिए तो ये यौगिक और भी ख़तरनाक हैं। इसके बावजूद भी ऐसे ज़हरीले यौगिकों का प्रयोग लगातार किया जा रहा है। अंग्रेज़ी अख़बार 'द हिन्दू' में छपी ख़बर के

(पेज 2 पर जारी)

जी.एन. साईबाबा मामले की रोशनी में भारतीय पूँजीवादी न्याय व्यवस्था का सच

यह न्याय व्यवस्था नहीं है बल्कि व्यवस्थित अन्याय, शोषण व उत्पीड़न पर आधारित अन्यायी व्यवस्था है!

• शिवानी

उच्चतम न्यायालय ने पिछले महीने अक्टूबर में बम्बई हाई कोर्ट की नागपुर बेंच के फ़ैसले को निलम्बित करते हुए ग़ैर-क़ानूनी गतिविधि रोकथाम अधिनियम (यूएपीए) के अन्तर्गत दर्ज माओवादियों से तथाकथित सम्बन्ध मामले में जी.एन. साईबाबा समेत पाँच अन्य राजनीतिक कार्यकर्ताओं की रिहाई पर रोक लगा दी। ज्ञात हो कि उच्चतम न्यायालय के इस आदेश से पहले बम्बई हाई कोर्ट ने जी.एन. साईबाबा व अन्य चार लोगों को रिहा करने का फ़ैसला सुनाया था। बम्बई उच्च न्यायालय ने अपना उक्त फ़ैसला 14 अक्टूबर को सुनाया था। उसी दिन, यानी 14 अक्टूबर को ही, बिना किसी देरी के महाराष्ट्र सरकार ने इस फ़ैसले को सुप्रीम कोर्ट में चुनौती दी थी और मामले को तत्काल सूचीबद्ध करने के लिए मुख्य न्यायाधीश यू.यू. ललित से सम्पर्क किया था। यह यू.यू. ललित वही शख़्सियत हैं जिन्होंने एक समय बतौर वकील सोहराबुद्दीन शेख़-तुलसी प्रजापति फ़र्ज़ी मुठभेड़ मामले में वर्तमान गृहमंत्री अमित शाह की नुमाइन्दगी की थी जिसका तोहफ़ा उन्हें मोदी-शाह सरकार ने 2014 में सत्ता में आते ही उनकी सर्वोच्च न्यायालय में न्यायाधीश के पद पर तत्काल नियुक्ति करके दिया था।

इसके बाद साईबाबा मामले में पूरा घटनाक्रम किसी "थ्रिलर" उपन्यास या फ़िल्म की तरह आगे बढ़ा जिसने "महान" भारतीय पूँजीवादी लोकतंत्र की उतनी ही "महान" न्यायिक व्यवस्था की पक्षधरता के विषय में रत्तीभर ग़लतफ़हमी भी नहीं रख छोड़ी। बचपन से नागरिक शास्त्र की पाठ्य पुस्तकों में न्यायपालिका के "निष्पक्ष" चरित्र की जो गल्प-कथाएँ हम पढ़ते और रटते आये हैं उसकी वास्तविकता तो सिर्फ़ इस एक अकेले मामले से ही सामने आने वाली थी। हालाँकि, हमारे देश की न्यायपालिका का चरित्र इसके पहले भी ऐसा कोई बेदाग़ या पाक-साफ़ नहीं रहा है और यह हक़ीक़त तो पिछले कुछ वर्षों में और अधिक खुलकर सामने आयी है।

बहरहाल, मुख्य न्यायाधीश ने राजनीतिक कार्यकर्ताओं की रिहाई के उपरोक्त मसले को इतना "संगीन" पाया और "राष्ट्र" की "अखण्डता" व "सम्प्रभुता" के लिए इनकी रिहाई को इतना बड़ा "ख़तरा" समझा कि आव देखा न ताव, एक विशेष पीठ गठित कर दी जिसने शनिवार को, जी हाँ, उस दिन जिस दिन सुप्रीम कोर्ट आम तौर पर बन्द रहता है, इस मामले की विशेष सुनवाई की। साईबाबा व अन्य कार्यकर्ताओं की रिहाई रोकने के लिए राज्य जिस तत्परता के साथ आगे बढ़ा और जिस फुर्तीलेपन के साथ इस देश में "इन्साफ़" का सबसे बड़ा पहरुआ यानी कि सर्वोच्च न्यायालय हरकत में आया वह वाक़ई कई मायनों में अभूतपूर्व था।

इसके पश्चात सुप्रीम कोर्ट की इस विशेष पीठ ने आनन-फ़ानन में मामले पर विशेष सुनवाई की और दो घण्टे की लम्बी सुनवाई के बाद जस्टिस एम.आर. शाह और जस्टिस बेला. एम. त्रिवेदी की पीठ ने महाराष्ट्र राज्य द्वारा दायर अपील पर नोटिस जारी करते हुए उपरोक्त आदेश पारित किया और साईबाबा व अन्य कार्यकर्ताओं की रिहाई पर रोक लगायी। यानी सुप्रीम कोर्ट का उपरोक्त फ़ैसला महाराष्ट्र सरकार व राज्य की अपील के जवाब में आया था। हमारे संविधान की अनूठी विशिष्टता के तौर पर कार्यपालिका, विधायिका तथा न्यायपालिका के बीच शक्तियों के पृथक्करण के जिस सिद्धान्त का लच्छेदार व घुमावदार भाषा में इस्तेमाल संविधान में किया गया है (हालाँकि स्पष्ट तौर पर भारतीय संविधान में पृथक्करण शब्द इस्तेमाल नहीं किया गया है जो इस देश के संविधान की एक और ख़ासियत है कि यह अपने स्रोतों को स्पष्ट तौर पर ज़ाहिर नहीं होने देता है लेकिन सच्चाई यह है कि शक्तियों के पृथक्करण के इस सिद्धान्त की अन्तर्वस्तु को अमेरिकी संविधान से ही उठा लिया गया था), उस शक्तियों के पृथक्करण का हुआ क्या? यह तो बुर्जुआ जनवादी लोकतंत्र की "ख़ासियत" थी और उसका दावा भी था न कि शक्तियों के पृथक्करण के ज़रिए वह राज्य को सर्वसत्तावादी होने से रोकता है, राज्य के सर्वाधिकारवादी बनने के विरुद्ध यह एक क़िस्म की संवैधानिक सुरक्षा प्रणाली मुहैया करवाता है और व्यक्ति (पढ़िए बुर्जुआ नागरिक) की स्वतंत्रता की रक्षा करता है। तो फिर न्यायपालिका के निर्णयों में सरकारों का इतना हस्तक्षेप कैसे सम्भव हो पाया है? असलियत यह है कि ऐसा कोई पृथक्करण या चीन की दीवार पूँजीवादी राज्य की इन शाखाओं के बीच पहले भी कभी मौजूद नहीं थी और अनगिनत ऐसे मामले उदहारण के तौर पर गिनवाये जा सकते हैं जो इस बात की पुष्टि करते हैं। **फ़र्क़ बस यह है कि फ़ासीवाद के मौजूदा दौर में यह पर्देदारी भी पूरी तरह से ख़त्म हो चुकी है और पूँजीवादी राज्य व इसकी तमाम शाखाएँ अपने असली रंग-रूप से सामने आ चुकी हैं।**

लेकिन आख़िरकार साईबाबा मामले में उच्चतम न्यायलय की इस हड़बड़ी के पीछे क्या कारण था? और अदालतों द्वारा ऐसी हड़बड़ी कुछ विशेष मामलों के लिए ही क्यों आरक्षित होती है? जी.एन. साईबाबा व अन्य राजनीतिक कार्यकर्ताओं के तत्काल रिहा होने से ऐसा कौन-सा पहाड़ टूट पड़ता? क्या उनकी रिहाई से न्याय की हत्या हो जाती? अपने इस आदेश में सुप्रीम कोर्ट ने कहा है कि प्रो. साईबाबा जैसे लोग देश की "अखण्डता" और "सम्प्रभुता" के लिए ख़तरा हैं! उच्चतम न्यायलय ने अपने आदेश में यह भी कहा कि जहाँ तक आतंकवादी या 'माओवादी' गतिविधियों का सवाल है तो दिमाग़ अधिक "ख़तरनाक" होता है और इनमें प्रत्यक्ष भागीदारी ज़रूरी नहीं है यानी अगर कोई व्यक्ति प्रत्यक्षत: किसी साज़िश में शामिल न हो तो भी अपने दिमाग़ के ज़रिए वह ऐसी साज़िशों में शामिल होता है और उनके लिए मददगार होता है!

यह फ़ैसला बुर्जुआ न्यायालयों के अपने ही पिछले रिकॉर्ड और पैमाने से भी अभूतपूर्व है। यह रिकॉर्ड वैसे तो पहले ही इतना गया-बीता है कि हर ऐसा आदेश आने पर आश्चर्य होता है कि अब इसमें और कितनी गिरावट आ सकती है! बावजूद इसके भारतीय पूँजीवादी न्याय व्यवस्था हर बार अपने ही पिछले कीर्तिमानों को ध्वस्त करके विस्मृत करने की पूरी ताक़त रखती है। सुप्रीम कोर्ट के आदेश से पहले बम्बई हाई कोर्ट का आदेश भी वैसे तो कोई सराहनीय फ़ैसला नहीं था। हालाँकि प्रगतिशील-लिबरल तबक़ा उस फ़ैसले पर भी ऐसे भाव-विह्वल हो रहा था मानो कि इन्साफ़ की कितनी बड़ी मिसाल क़ायम की गयी हो। लेकिन इस पर आगे आयेंगे।

वैसे तो आम तौर पर भी लेकिन विशेषकर पिछले आठ वर्षों के भीतर जब से कि फ़ासीवादी मोदी सरकार शासन में है, न्यायपालिकाओं द्वारा इस प्रकार के फ़ैसले सुनाना कोई पूरी तरह से अप्रत्याशित बात भी नहीं रह गयी है। क्या आप हाल-फ़िलहाल में बिलकिस बानो मामले को भूल सकते हैं? जब इस साल 15 अगस्त को आज़ादी का "अमृत महोत्सव" मनाया जा रहा था, उसी दिन 2002 गुजरात नरसंहार के दौरान के बिलकिस बानो सामूहिक बलात्कार व हत्या मामले के 11 दोषियों को रिहा किया जा रहा था। **क्या ये दंगाई और बलात्कारी देश की "अखण्डता" और "सम्प्रभुता" के दुश्मन नहीं थे? क्या न्यायालयों को तब इसकी चिन्ता नहीं सता रही थी कि ऐसे बर्बर अमानवीय कृत्यों को अंजाम देने वाले ये लोग समाज के लिए कितना बड़ा ख़तरा हैं? क्या ऐसे लोगों के बाहर निकलने से इस देश की स्त्रियाँ और मुसलमान सुरक्षित महसूस कर पायेंगे? यह कौन-से "राष्ट्र" की कैसी "अखण्डता" और "सम्प्रभुता" है जिसे एक 80 प्रतिशत से अधिक विकलांग व्यक्ति के दिमाग़ से तो ख़तरा है लेकिन जो दंगाइयों, बलात्कारियों, हत्यारों के देश में छुट्टा घूमने से ज़रा भी खण्डित नहीं होती है?** ज़रा सोचिए!

लेकिन क़ानूनी अन्धेरगर्दी का यह क़िस्सा यहीं ख़त्म नहीं होता है। 15 अक्टूबर को जहाँ एक ओर साईबाबा की रिहाई नामंज़ूर की जा रही थी, वहीं दूसरी ओर डेरा सच्चा सौदा के प्रमुख गुरमीत राम रहीम को 40 दिन की पैरोल पर रिहा किया जा रहा था। यह वही राम रहीम है जिसकी 2002 में दो पत्रकारों और 2021 में अपने आश्रम के प्रबन्धक की हत्या व 2017 में अपने ही आश्रम की दो स्त्री अनुयायियों के साथ बलात्कार के जुर्म में दोषसिद्धि हो चुकी है और इन संगीन जुर्मों के तहत वह अपराधी घोषित किया जा चुका है और 20 साल की सज़ा काट रहा है। लेकिन बावजूद इसके यह हत्यारा और बलात्कारी बाबा चैन से बाहर की हवा खा रहा है, वहीं सर्वोच्च न्यायालय द्वारा साईबाबा के अधिवक्ता द्वारा उन्हें घर में नज़रबन्द किये जाने की अपील तक को ठुकरा दिया जाता है। इससे पहले भी इस साल फ़रवरी में राम रहीम को जेल से तीन हफ़्ते की छुट्टी मिली थी और कुल मिलकर वह अब तक छः बार जेल से बाहर आ चुका है।

बताते चलें कि पैरोल दरअसल सशर्त रिहाई होती है जो सरकार की मंज़ूरी के बग़ैर मिल ही नहीं सकती है। राम रहीम के मामले में यह प्राधिकार हरियाणा सरकार के पास था जहाँ पर कि "प्राचीन भारतीय संस्कृति", "हिन्दू गौरव", "संस्कारों" और "राष्ट्रभक्ति" की शिरोमणि संरक्षक और ठेकेदार भाजपा का शासन है। **अब जिस पार्टी में बलात्कारियो, हत्यारों, भ्रष्टाचारियों, हिस्ट्रीशीटरों की स्वयं भरमार हो, जहाँ दंगाइयों के लिए पलक-पाँवड़े बिछाये जाते हों और मुसलमानों की लिंचिंग करने वालों का फूल मालाओं से स्वागत-सत्कार किया जाता हो, जिस पार्टी के नेता-मंत्री बलात्कारियों के समर्थन में तिरंगे को लेकर रैलियाँ निकालते हों, वहाँ उसकी सरकार तो ऐसे बलात्कारी और हत्यारे "संस्कारी" बाबाओं को पैरोल पर रिहा करेगी ही! आख़िर चोर-चोर मौसेरे भाई जो ठहरे!** राम रहीम के पैरोल के पीछे भाजपा के हरियाणा में चुनावी समीकरण भी काम कर रहे हैं, जहाँ उपचुनाव और पंचायत चुनाव होने वाले हैं और इसके ज़रिए भाजपा वोटों की फ़सल काटने की फ़िराक़ में है। लेकिन राम रहीम जैसों की रिहाई पर न्यायपालिका को कोई दिक़्क़त नहीं है। और न ही राम रहीम जैसे हत्यारे और बलात्कारी का पैरोल पर बाहर आना इस देश की अदालतों और न्यायाधीशों के दिमाग़ों में ख़तरे की घण्टी ही बजाता है। वहीं स्टैन स्वामी जैसे एक बेहद बुज़ुर्ग बीमार व्यक्ति को नक़ली व बेबुनियाद आरोपों और फ़र्ज़ी मुक़दमे में क़ैद कर लिया जाता है, स्वास्थ्य के आधार पर उनकी बेल तक नामंज़ूर कर दी जाती है और कोविड महामारी के दौरान हिरासत में ही मरने के लिए छोड़ दिया जाता है! और अब यह कहानी साईबाबा, गौतम नवलखा और वरवर राव जैसे राजनीतिक कार्यकर्ताओं के साथ भी दुहरायी जा रही है। जी.एन. साईबाबा मामले के छठे अभियुक्त पाण्डु पोरा नरोते की इसी वर्ष अगस्त में मृत्यु हो चुकी है।

तो यह है पूँजीवादी न्याय व्यवस्था की असलियत! क्या अभी भी इस न्यायिक व्यवस्था की पक्षधरता और प्रतिबद्धता को लेकर कोई सन्देह बचा है? **यह न्याय व्यवस्था नहीं है बल्कि आम मेहनतकशों-मज़दूरों, ग़रीबों, स्त्रियों, दलितों, मुसलमानों की लाशों की नींव पर खड़ी व्यवस्थित और संगठित अन्याय, शोषण और उत्पीड़न की व्यवस्था है जिसमें क़ानून की आँखों पर पूँजी के हितों की ही पट्टी बँधी हुई है जो इस वर्ग-विभाजित समाज में सम्पत्तिधारी व शोषणकारी वर्गों के प्रति क़ानून और न्यायपालिका की प्रतिबद्धता में ज़ाहिर होती है।**

दरअसल पूँजीवादी न्याय व्यवस्था का भी एक स्पष्ट वर्ग चरित्र है। व्यवस्था की उत्तरजीविता बढ़ाने और पूँजीपतियों, पूँजीवादी दलों, सरकारों की नंगी लूट और तानाशाही पर पर्दा डालने के लिए बीच-बीच में न्यायपालिका कुछेक आभासी और औपचारिक तौर पर जनपक्षधर फ़ैसले देती है जिसके कारण इसके वास्तविक चरित्र को लेकर आम लोगों में भी विभ्रम बना रहता है। लेकिन आज के दौर में तो यह बात दिन के उजाले की तरह साफ़ हो चुकी है कि न्यायपालिका न सिर्फ़ पूँजी के हितों की सेवा कर रही है, जोकि वह आम तौर पर भी करती

(पेज 10 पर जारी)

यूएपीए – काला क़ानून और उसका काला इतिहास

• भारत

हमारे देश का संविधान कहता है कि राज्य हर व्यक्ति के अधिकार की रक्षा करेगा। देश का नागरिक होने की हैसियत से हर व्यक्ति को मूलभूत अधिकार प्राप्त हैं, जिनका हनन होने की सूरत में कोई भी व्यक्ति न्यायालय में गुहार लगा सकता है। पर संविधान में लिखे गये ये शब्द महज़ काग़ज़ी प्रतीत होते हैं। बात करें आज के दौर की तो मौजूदा सरकार धड्डले से हमारे इन अधिकारों को छीनने में लगी है। ज़ाहिर-सी बात है 75 वर्षों से सत्ता में आयी सभी सरकारों ने हमारे अधिकारों को छीनने का काम किया है, पर मोदी सरकार को इसमें महारत हासिल है। आज मोदी सरकार अपने ख़िलाफ़ उठने वाली हर आवाज़ को दबा देना चाहती है। इसके लिए उन्हें अलग से कोई तानाशाही लागू करने की ज़रूरत नहीं है, बल्कि भारत का संविधान ही उनको ये अधिकार देता है कि वो जनता के अधिकारों को और अपने ख़िलाफ़ उठने वाली हर आवाज़ को कुचल सके। कैसे आइए जानते हैं!

आपने ग़ैर-क़ानूनी गतिविधियाँ (रोकथाम) क़ानून यानी यूएपीए का नाम ज़रूर सुना होगा। आजकल यह काफ़ी प्रचलित है। प्रचलित इसलिए नहीं कि इससे देश की कुछ बेहतरी हो रही है, बल्कि इसलिए कि मोदी सरकार यूएपीए लगाकर बिना सबूत के भी किसी को सालों तक क़ैद करके रख सकती है। इसका सबसे ताज़ा उदाहरण है उमर ख़ालिद की रिहाई की अर्ज़ी का ख़ारिज किया जाना। उमर ख़ालिद पर कथित तौर पर 2020 के दिल्ली दंगो का "मास्टरमाइण्ड" होने का आरोप है। जीएन साईबाबा पर भी यूएपीए लगाकर उन्हें सालों से जेल में रखा गया है। इसके साथ ही शरजील इमाम, सुधा भारद्वाज, वरवर राव, अरुण फरेरा, गौतम नवलखा जैसे सामाजिक कार्यकर्ताओं को भी इसी क़ानून के दम पर कई सालों तक क़ैद किया है। स्टेन स्वामी की भी मृत्यु इसी कारण हुई। कश्मीर के पत्रकार ख़ुर्रम परवेज़ भी इसी क़ानून के तहत जेल में बन्द हैं। इसी तरह दिल्ली के दंगों के सिलसिले में यूएपीए के तहत गिरफ़्तार किये कुल 22 लोगों में से तीन छात्र नेताओं – देवांगना कलिता, आसिफ़ इक़बाल तन्हा और नताशा नरवाल – को 13 महीने जेल में रहने के बाद ज़मानत मिली। आलम यह है कि सिर्फ़ ट्विटर पर चन्द शब्द लिखने पर भी यूएपीए लगा दिया जाता है। ये कोई मज़ाक़ नहीं, हमारे देश की सच्चाई है। अभी ये फ़ेहरिस्त और लम्बी है। ये सब लोग किसी न किसी रूप में मोदी सरकार के ख़िलाफ़ जनता के हक़ की आवाज़ उठा रहे थे और उन्हें इसी अपराध के लिए जेल में डाल दिया गया।

आइए अब जानते हैं क्या है ये यूएपीए और उसका इतिहास जिसके तहत किसी को भी देशद्रोही घोषित किया जा सकता है। पहले हम देखेंगे कि संविधान में इस तरह के काले क़ानून बनाने के लिए क्या प्रावधान है और आज़ादी के बाद से आज तक यह किस तरह प्रभावशाली रहा है। 'कैसा है ये लोकतंत्र और यह संविधान किसकी सेवा करता है' पुस्तक में लेखक बताते हैं – "संविधान में अनुच्छेद 22 में मौजूद प्रावधानों पर निगाह डालते हैं जिनके तहत कुछ दशाओं में गिरफ़्तारी और निरोध से संरक्षण का दावा किया गया है। लेकिन हास्यास्पद तथ्य यह है कि इसी अनुच्छेद में राज्य को निरोधक नज़रबन्दी (preventive detention) सम्बन्धित क़ानून बनाने के लिए संवैधानिक मंज़ूरी भी दी गयी है। इसी संवैधानिक मंज़ूरी का जमकर लाभ उठाते हुए संसद और राज्य विधायिकाओं ने पिछले 75 वर्षों के दौरान तमाम काले क़ानूनों की झड़ी लगायी है जिनका इस्तेमाल राज्यसत्ता द्वारा बड़े पैमाने पर नागरिक और जनवादी अधिकारों का हनन करने के अलावा जनान्दोलनों का दमन करने में भी किया गया। अभी मूल संविधान की स्याही भी नहीं सूखी थी जब संसद ने निरोधक नज़रबन्दी क़ानून 1950 (Preventive Detention Act 1950) को पारित किया जो 1969 तक प्रभावी रहा। इसके पश्चात 1971 में 'मीसा' लाया गया जो 1975 से 1977 तक प्रभावी कुख्यात आपातकाल के दौरान राज्य की नग्न तानाशाही का पर्याय बन गया। 1980 में राष्ट्रीय सुरक्षा क़ानून (National Security Act) लाया गया जो आज भी अस्तित्व में है। 1985 में 'टाडा' (Terrorism and Disruptive Activities Act) लाया गया जिसका आतंकवाद से लड़ने के नाम पर जमकर दुरुपयोग हुआ। वर्ष 2002 में तत्कालीन राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबन्धन की सरकार ने आतंकवाद से लड़ने के लिए अपनी प्रतिबद्धता दिखाने के लिए ख़ूँख़ार पोटा (Prevention of Terrorism Act) पारित किया जिसका दुरुपयोग होना ही था और वही हुआ। वर्ष 2004 में संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन की सरकार ने अपनी प्रगतिशील छवि दिखाने के लिए पोटा को निरस्त किया, परन्तु बड़ी ही चालाकी से उसके काले प्रावधान ग़ैर-क़ानूनी गतिविधियाँ निवारक अधिनियम (Unlawful Activities (Prevention) Act) में डाल दिये। इसके अतिरिक्त विभिन्न राज्यों में भी इस क़िस्म के काले क़ानूनों की एक लम्बी फ़ेहरिस्त है जैसे कि महाराष्ट्र में 'मकोका' और छत्तीसगढ़ में छत्तीसगढ़ विशेष सुरक्षा अधिनियम!"

साल 1995 में टाडा और 2004 में पोटा के ख़त्म होने के बाद उसी साल यूएपीए क़ानून में महत्वपूर्ण संशोधन किया गया। पोटा के कुछ प्रावधान छोड़ दिये गये तो कुछ शब्दशः यूएपीए में जोड़ दिये गये। इसमें टेरर फ़ण्डिंग से लेकर बिना चार्जशीट दायर किये 180 दिनों तक हिरासत में रखने का प्रावधान रखा गया। 1967 में यूएपीए, 1987 में टाडा, 1999 में मकोका, 2002 में पोटा और 2003 में गुजकोका, देश में आतंकवाद पर रोकथाम लगाने के लिए बनाये गये क़ानूनों की एक लम्बी लिस्ट रही है। मकोका और गुजकोका क्रमश: महाराष्ट्र और गुजरात सरकारों ने बनाये थे। टाडा के तहत जिन 76,036 लोगों को गिरफ़्तार किया गया, उनमें से केवल एक फ़ीसदी पर आरोप साबित हो पाये। ठीक इसी तरह साल 2004 में जब पोटा क़ानून ख़त्म किया गया था तब तक इसके तहत 1031 लोगों को गिरफ़्तार किया गया जिनमें केवल 18 लोगों की सुनवाई पूरी हुई और उनमें से 13 को दोषी पाया गया था।

अब बात करते हैं यूएपीए की। यूएपीए ऐक्ट के सेक्शन 15 के अनुसार भारत की एकता, अखण्डता, सुरक्षा, आर्थिक सुरक्षा या सम्प्रभुता को संकट में डालने या संकट में डालने की सम्भावना के इरादे से भारत में या विदेश में जनता या जनता के किसी तबक़े में आतंक फैलाने या आतंक फैलाने की सम्भावना के इरादे से किया गया कार्य 'आतंकवादी कृत्य' है। इस परिभाषा में बम धमाकों से लेकर जाली नोटों का कारोबार तक शामिल है। आतंकवाद और आतंकवादी की स्पष्ट परिभाषा देने के बजाय यूएपीए एक्ट में सिर्फ़ इतना ही कहा गया है कि इनके अर्थ सेक्शन 15 में दी गयी 'आतंकवादी कार्य' की परिभाषा के मुताबिक़ होंगे। सेक्शन 35 में इससे आगे बढ़कर सरकार को यह हक़ दिया गया है कि किसी व्यक्ति या संगठन को मुक़दमे का फ़ैसला होने से पहले ही 'आतंकवादी' क़रार दे सकती है। राष्ट्रीय सुरक्षा और अखण्डता से जुड़ी समस्याओं का हवाला देकर साल 1967 में लाये गये यूएपीए क़ानून में कई बार संशोधन हुए हैं और हर संशोधन के साथ ये ज़्यादा कठोर होता गया है। अगस्त 2019 के संशोधन के बाद इस क़ानून को इतनी ताक़त मिल गयी कि किसी भी व्यक्ति को जाँच के आधार पर आतंकवादी घोषित किया जा सकता है। अगस्त 2019 में इस ऐक्ट में छठा संशोधन किया गया था। संशोधन के अनुसार ऐक्ट के सेक्शन 35 और 36 के तहत सरकार बिना किसी दिशानिर्देश के, बिना किसी तयशुदा प्रक्रिया का पालन किये किसी व्यक्ति को आतंकवादी क़रार दे सकती है। सरकार को अगर इस बात का 'यक़ीन' हो जाये कि कोई व्यक्ति या संगठन 'आतंकवाद' में शामिल है तो वो उसे 'आतंकवादी' क़रार दे सकती है। यहाँ आतंकवाद का मतलब आतंकवादी गतिविधि को अंजाम देना या उसमें शामिल होना, आतंकवाद के लिए तैयारी करना या उसे बढ़ावा देना या किसी और तरीक़े से इससे जुड़ना है। दिलचस्प बात ये है कि 'यक़ीन की बुनियाद पर' किसी को आतंकवादी क़रार देने का ये हक़ सरकार के पास है न कि किसी अदालत के पास। यूएपीए की सबसे ख़तरनाक बात यही है कि बिना जुर्म बताये और जुर्म साबित किये किसी को 90 दिनों तक हिरासत (जुडिशियल कस्टडी) में रखा जा सकता है। अगर 90 दिनों में भी छानबीन पूरी नहीं होती है, तो इसे 180 दिनों तक बढ़ाया जा सकता है। साथ ही इसे कोर्ट के आदेश पर पूरी ज़िन्दगी तक बढ़ाया भी जा सकता है। जबकि दूसरे मामलों में 90 दिन तक अगर छानबीन पूरी नहीं हुई या कोई सबूत नहीं मिला तो आरोपी को छोड़ दिया जाता है। इसके साथ इस क़ानून के अन्तर्गत अभियुक्त की ही यह ज़िम्मेदारी होती है कि वह यह साबित करे कि वह अपराधी नहीं है। यानी आतंकवादी का आरोप राज्य लगायेगा लेकिन आतंकवाद के आरोप से मुक्ति के लिए सबूत व्यक्ति को देना होगा। कुल मिलाकर सरकार को इस क़ानून के माध्यम से ऐसी शक्ति मिली हुई है कि वह किसी भी तरह की असहमति को ग़ैर-क़ानूनी बताकर उसपर आरोप लगा सके और व्यक्ति जीवनभर उसे हटाने की कोशिश करता रहे। साथ ही नेशनल इन्वेस्टिगेशन एजेंसी (एनआईए) को ऐसे मामलों की जाँच-पड़ताल का अधिकार दिया गया है, जो अब तक राज्यों की पुलिस के अधिकार क्षेत्र में रहते थे।

इस प्रकार हम पाते हैं कि संविधान ने नागरिकों को जो अतिसीमित अधिकार प्रदान भी किये हैं उनके अपहरण के प्रावधान भी संविधान में ही मौजूद हैं, तभी मोदी सरकार क़ानून सम्मत तरीक़े से ही सारे अधिकारों को छीन रही है। अब आँकड़ों के माध्यम से भी इस बात को पुख़्ता करते हैं कि किस प्रकार मोदी-शाह के फ़ासिस्ट राज में इस क़ानून के माध्यम से दमन चक्र चलाया जा रहा है। ग़ैर-क़ानूनी गतिविधियाँ (रोकथाम) क़ानून यानी 'यूएपीए' और राजद्रोह यानी भारतीय दण्ड संहिता की धारा 124ए के सबसे ज़्यादा मामले सिर्फ़ साल 2016 से लेकर साल 2019 के बीच दर्ज किये गये हैं। इनमें अकेले 'यूएपीए' के तहत 5,922 मामले दर्ज किये गये हैं। ये जानकारी राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो यानी एनसीआरबी की रिपोर्ट में दी गयी है। रिपोर्ट में ये भी कहा गया है कि इस दौरान इनमें से कुल 132 लोगों के ख़िलाफ़ ही आरोप तय हो पाये हैं। एनसीआरबी की रिपोर्ट के हवाले से यह भी पता चलता है कि सिर्फ़ 2019 में ही यूएपीए के तहत पूरे देश में 1,948 मामले दर्ज किये गये हैं। आँकड़े बताते हैं कि इस साल अभियोजन पक्ष किसी पर भी आरोप साबित करने में असफल रहा जिसकी वजह से 64 लोगों को अदालत ने दोषमुक्त क़रार दिया। 2018 की अगर बात की जाये तो जिन 1,421 लोगों पर यूएपीए के तहत मामले दर्ज हुए उनमें से सिर्फ़ चार मामलों में ही अभियोजन पक्ष व्यक्ति पर आरोप तय करने में कामयाब रहा, जबकि इनमें से 68 लोगों को अदालत ने बरी कर दिया। वहीं उत्तर प्रदेश में बेहतर क़ानून व्यवस्था और न्यूनतम अपराध के नाम पर 2017 में योगी आदित्यनाथ की बीजेपी सरकार बनने के बाद से इस क़ानून के तहत 313 केस दर्ज हुए हैं और 1397 लोगों की गिरफ़्तारी हुई है। जबकि साल 2015 में ग़ैर-क़ानूनी गतिविधियाँ (रोकथाम) अधिनियम के तहत सिर्फ़ छह केस दर्ज किये गये थे, जिनमें 23 लोगों की गिरफ़्तारी हुई थी। नेशनल क्राइम रिकॉर्ड ब्यूरो यानी एनसीआरबी और गृह मंत्रालय के आँकड़े बताते हैं कि यूएपीए के मामलों में आरोपपत्र दायर होने और जाँच पूरी होने की दर बहुत कम है। सितम्बर, 2020 में गृह मंत्रालय ने राज्यसभा में बताया था कि साल 2016-18 के बीच यूएपीए के तहत कुल 3005 मामले दर्ज किये गये थे। इनमें कुल 3947 लोगों को गिरफ़्तार किया गया था लेकिन चार्जशीट सिर्फ़ 821 मामलों में ही दायर की जा सकी थी। यानी इस दौरान महज़ 27% मामलों की जाँच ही पूरी की जा सकी थी। साल 2020 के नेशनल क्राइम रिकॉर्ड ब्यूरो के आँकड़े कहते हैं कि यूएपीए क़ानून के तहत दर्ज 95% मामलों अब तक ट्रायल नहीं हुआ है। 85% मामले ऐसे हैं जिनकी छानबीन करनी बाक़ी है। एक अन्य रिपोर्ट में दावा किया गया है कि साल 2014 से इस तरह के 96 फ़ीसदी मामलों में सरकार और नेताओं की आलोचना को लेकर यूएपीए लगाया गया है।

इन सबसे दो बातें स्पष्ट होती हैं पहली यह कि आज फ़ासीवादी मोदी सरकार अपने ख़िलाफ़ उठने वाली हर आवाज़ को दबा देना चाहती है। यही कारण है कि यूएपीए जैसे काले क़ानून को ताक़तवर बनाया गया जिसके माध्यम से दलितों, अल्पसंख्यकों, सामाजिक कार्यकर्ताओं, आदिवासियों को सालों तक क़ैद करके रखा जा सके। दूसरा, आज के दौर के इन फ़ासीवादियों को अपने पूर्वज हिटलर की तरह तानाशाही लागू करने की ज़रूरत नहीं है, बल्कि भारत का संविधान ही उन्हें ये अधिकार देता है कि इस तानाशाही को क़ानूनी तरीक़े से लागू किया जा सके। भारतीय संविधान के उत्साही समर्थक और बुर्जुआ बुद्धजीवी संविधान का बखान करते नहीं अघाते। सतही तौर पर देखने से ये जनता को स्वतंत्रता सम्बन्धी तमाम अधिकार देते हुए प्रतीत भी होते हैं। पर जैसे ही इसकी तफ़सीलों में जाते हैं, हम पाते हैं कि दरअसल ये जनता को प्रदत्त अधिकार कम और राज्य द्वारा जनता के अधिकारों का हनन करने के अस्त्र ज़्यादा हैं और इन्हीं अस्त्रों का प्रयोग आज मोदी सरकार जनता पर बर्बर तरीक़े से कर रही है। पर इसके बावजूद इतिहास हमें बताता है कि जनता ने ऐसे तमाम क़ानूनों को भी अपनी एकता के क़दमों से रौंद डाला है और आज भी हमें एकजुट होकर इन फ़ासीवादियों को चुनौती देनी होगी और इनसे सवाल पूछना होगा – **"किस किस को क़ैद करोगे!"**

आज़ाद ज़िन्दगी के लिए ज़ालिम इस्लामी कट्टरपन्थी पूँजीवादी निज़ाम के ख़िलाफ़ ईरान की औरतों की बग़ावत

● आनन्द

गत 16 सितम्बर को ईरान की राजधानी तेहरान में महसा अमीनी नामक कुर्द मूल की 22 वर्षीय ईरानी युवती की मौत के बाद शुरू हुआ आन्दोलन सत्ता के बर्बर दमन के बावजूद जारी है। ग़ौरतलब है कि महसा को 13 सितम्बर को ईरान की कुख्यात *नैतिकता पुलिस* ने इस आरोप में गिरफ़्तार करके हिरासत में लिया था कि उसने सही ढंग से हिजाब नहीं पहना था और उसके बाल दिख रहे थे। हिरासत में उसको दी गयी यंत्रणा की वजह से वह कोमा में चली गयी और तीन दिन बाद उसकी मौत हो गयी। हालाँकि ईरान की शिया इस्लामी कट्टरपन्थी हुकूमत ने यह साबित करने के लिए तमाम कहानियाँ गढ़ीं कि महसा की मौत बीमारी की वजह से हुई थी, लेकिन यह सफ़ेद झूठ लोगों के आक्रोश को शान्त न कर सका। ईरान के लगभग सभी प्रमुख शहरों में बड़ी संख्या में औरतों ने विरोध प्रदर्शनों का सिलसिला शुरू कर दिया जिसमें बाद में पुरुष भी शामिल होते गये। औरतों ने हिजाब सहित अपने ऊपर थोपी गयी तमाम पाबन्दियों के विरोध में अपने हिजाब जलाये और सार्वजनिक रूप से अपने बालों को काटा। ये प्रदर्शन जंगल की आग की तरह समूचे ईरान में फैलते चले गये और जल्द ही वे समूचे निज़ाम के ख़िलाफ़ एक देशव्यापी आन्दोलन में तब्दील हो गये। अयातुल्लाह खमेनी की सत्ता द्वारा बर्बरता से दमन करने की कोशिशों के बावजूद आन्दोलन नहीं थमा। ईरान में सक्रिय राजनीतिक कार्यकर्ताओं द्वारा संचालित न्यूज़ एजेंसी एचआरएएनए के अनुसार 20 अक्टूबर तक सरकार के दमन की वजह से 244 प्रदर्शनकारियों की मौत हो चुकी थी जिसमें 32 किशोर भी शामिल हैं। इसके अलावा 114 शहरों व गाँवों के 82 विश्वविद्यालयों में 12,500 से भी अधिक प्रदर्शनकारियों को गिरफ़्तार किया जा चुका है। इस आन्दोलन को फैलने से रोकने के लिए इण्टरनेट व सोशल मीडिया पर तमाम प्रतिबन्ध लगाये जा रहे हैं। यह सब दिखाता है कि खमेनी की ज़ालिम सत्ता इस आन्दोलन से कितनी ख़ौफ़ज़दा है।

ईरान में जारी यह आन्दोलन वहाँ की औरतों की घुटन-भरी ज़िन्दगी के ख़िलाफ़ बग़ावत और आज़ाद ज़िन्दगी जीने की उनकी चाहत की अभिव्यक्ति है जो उनके नारे 'जान (औरतें), ज़ेन्दगी, आज़ादी' में भी झलकता है। 1979 में ईरान की तथाकथित इस्लामी क्रान्ति के बाद अस्तित्व में आये शिया इस्लामी कट्टरपन्थी निज़ाम ने इस्लामी क़ानून शरिया लागू करते हुए महिलाओं पर बेइन्तहा पाबन्दियाँ थोपी हुई हैं। सार्वजनिक स्थानों पर उन्हें हिजाब के बिना जाने की मनाही है। यही नहीं, राज्यसत्ता यह भी तय करती है कि उन्हें किस तरह का हिजाब पहनना है और कैसे पहनना है। हिजाब पहनने के बाद उनके बाल नहीं दिखने चाहिए और उन्हें ढीली-ढाली हिजाब ही पहननी होती है। अगर वे टाइट हिजाब पहनती हैं या अगर वे हिजाब इस तरह से पहनती हैं कि उनके बाल नज़र आते हैं तो सड़कों पर मौजूद नैतिकता पुलिस के सिपाही उनके साथ बदतमीज़ी-भरी अपमानजनक पूछताछ करते हैं और उन्हें हिरासत में भी ले सकते हैं, जैसाकि महसा अमीनी के मामले में हुआ। हिजाब न पहनने या सही ढंग से हिजाब न पहनने पर ईरानी औरतों को दो महीने तक हिरासत में रहना पड़ सकता है और उन्हें 5 लाख रियाल (ईरानी मुद्रा) तक का दण्ड देना पड़ सकता है या फिर उन्हें 74 कोड़ों की सज़ा मिल सकती है।

हिजाब सम्बन्धी यह बर्बर क़ानून ईरान में महिलाओं के साथ होने वाले अपमानजनक भेदभाव व अत्याचार की बस एक बानगी है। इसके अलावा सार्वजनिक स्थानों पर महिलाओं के पहनावे व मेकअप सम्बन्धी तमाम बन्दिशें हैं। उन्हें अकेले घूमता देख नैतिकता पुलिस कभी भी उनके आईडी कार्ड चेक कर सकती है। उन्हें विदेश जाने के लिए अपने पति या पिता की अनुमति लेनी होती है। साधारण परिस्थितियों में वे अपने पति को तलाक़ नहीं दे सकती हैं। ईरान में लड़कियों के लिए विवाह की न्यूनतम उम्र मात्र 13 वर्ष है। वहाँ लड़कियाँ अपनी पसन्द से शादी नहीं कर सकती हैं, उन्हें शादी के लिए अपने पिता या दादा की अनुमति लेनी होती है। मुस्लिम महिलाएँ ग़ैर-मुस्लिम से शादी नहीं कर सकती हैं। विधवा महिलाओं को उनके मृत पति की समूची सम्पत्ति नहीं मिलती है जबकि विधुर पुरुषों को उनकी मृतक पत्नी की पूरी सम्पत्ति मिल जाती है।

ईरानी औरतों पर ज़ालिम इस्लामी कट्टरपन्थी सत्ता द्वारा थोपी गयी उपरोक्त पाबन्दियों व बन्दिशों के ख़िलाफ़ वहाँ समय-समय पर प्रतिरोध होते रहे हैं। महसा अमीनी की मौत के बाद शुरू हुई ईरानी औरतों की बग़ावत इस प्रतिरोध के सिलसिले की नवीनतम कड़ी है। इस बग़ावत की ख़ासियत यह है कि इसमें बड़ी संख्या में पुरुष भी महिलाओं के कन्धे से कन्धा मिलाकर महिलाओं की आज़ादी के समर्थन में सड़कों पर उतर रहे हैं। ईरान के तमाम शहरों में विश्वविद्यालयों के छात्र भी बड़ी संख्या में शामिल हो रहे हैं। यही नहीं, कई शहरों में औद्योगिक मज़दूरों व ट्रेड यूनियनों ने भी इस आन्दोलन को अपना समर्थन दिया है। औरतों की आज़ादी की माँग को लेकर शुरू हुए इस स्वत:स्फूर्त आन्दोलन के बर्बर दमन के बाद यह आन्दोलन अयातुल्लाह खमेनी की हुकूमत के ख़िलाफ़ एक देशव्यापी जनान्दोलन में तब्दील हो गया।

मौजूदा आन्दोलन के व्यापक स्वरूप से यह स्पष्ट है कि यह औरतों के ऊपर हो रहे ज़ुल्मों के ख़िलाफ़ बग़ावत के साथ ही साथ समूचे इस्लामी कट्टरपन्थी पूँजीवादी निज़ाम के ख़िलाफ़ लोगों के आक्रोश को भी अभिव्यक्त कर रहा है। ग़ौरतलब है कि ईरान में इस्लामी निज़ाम के आवरण में एक महाभ्रष्ट पूँजीवादी तंत्र अस्तित्वमान है जिसकी बागडोर अयातुल्लाह खमेनी के नेतृत्व में कट्टरपन्थी मुल्लों और तथाकथित 'रिवोल्यूशनरी गार्ड' के हाथों में है जिनके तार वहाँ के सैन्य औद्योगिक आर्थिक संकुल (मिलिटरी इण्डस्ट्रियल इकोनॉमिक कॉम्पलेक्स) से जुड़े हैं और जो वहाँ की अर्थव्यवस्था के प्रमुख सेक्टरों पर क़ाबिज़ हैं। साढ़े आठ करोड़ की जनसंख्या वाले ईरान में यह छोटा-सा तबक़ा वहाँ बुनियाद नामक ट्रस्टों के तहत तमाम अनुबन्धों और परमिटों को हासिल करके अकूत मुनाफ़ा कूट रहा है। ईरान की अर्थव्यवस्था का आधारभूत स्तम्भ वहाँ के तेल व गैस संसाधन हैं। दुनिया के कुल तेल उत्पादन का 10 फ़ीसदी व कुल गैस उत्पादन का 15 फ़ीसदी अकेले ईरान में होता है। तेल व गैस के निर्यात से प्राप्त अकूत सम्पत्ति हड़पकर वहाँ ईरान का शासक तबक़ा विलासिता-भरी ज़िन्दगी बिता रहा है। वहीं दूसरी ओर वहाँ की बहुसंख्य मेहनतकश आबादी मुफ़लिसी और ज़िल्लत-भरी ज़िन्दगी बिताने को मजबूर है। ख़ास तौर पर 1990 के दशक में राष्ट्रपति रफ़संजानी के शासन में शुरू किये गये नवउदारवादी सुधारों के बाद से ईरानी समाज की ग़ैर-बराबरी में बेइन्तहा बढ़ोत्तरी हुई है जिसकी वजह से वहाँ के आम लोगों में खमेनी हुकूमत के ख़िलाफ़ ज़बर्दस्त आक्रोश है। अमेरिका व अन्य पश्चिमी साम्राज्यवादी देशों द्वारा ईरान पर लगाये गये प्रतिबन्धों ने वहाँ के हुक्मरानों पर तो ज़्यादा असर नहीं डाला, लेकिन उन्होंने आम लोगों की ज़िन्दगी के हालात को और बिगाड़ने का काम किया है। ग़ौरतलब है कि 2019-20 में कोरोना महामारी के पहले भी पेट्रोल की क़ीमतों में भीषण बढ़ोत्तरी के ख़िलाफ़ ईरान में एक देशव्यापी जुझारू आन्दोलन हुआ था जिसके निशाने पर समूचा धार्मिक कट्टरपन्थी पूँजीवादी निज़ाम था। कोरोना के बाद वहाँ के आर्थिक हालात बदतर हुए हैं। महँगाई की दर 30 फ़ीसदी से भी ज़्यादा हो चुकी है और बेरोज़गारी भी बढ़ी है। ऐसे में यह समझना मुश्किल नहीं है कि हिजाब के मुद्दे पर शुरू हुआ आन्दोलन कैसे समूचे निज़ाम के ख़िलाफ़ आन्दोलन में तब्दील हो गया। इस आन्दोलन का असर ईरान के कुर्द व बलूची अल्पसंख्यकों के इलाक़ों में सबसे ज़्यादा हुआ है क्योंकि इस्लामी कट्टरपन्थी पूँजीवादी निज़ाम की वजह से ईरान में क्षेत्रीय असमानता भी तेज़ी से बढ़ी है और अल्पसंख्यक राष्ट्रीयताओं के इलाक़े अन्य इलाक़ों से बहुत पीछे हैं। ग़ौरतलब है कि महसा अमीनी अल्पसंख्यक कुर्द मूल की थी जिनके साथ ईरान में ज़बर्दस्त भेदभाव होता है।

कुछ लोग ईरान में जारी आन्दोलन को पूरी तरह से पश्चिम द्वारा प्रायोजित बता रहे हैं। इसमें कोई दो राय नहीं कि पश्चिमी मीडिया ईरान में जारी आन्दोलन को ज़बर्दस्त कवरेज दे रहा है क्योंकि साम्राज्यवादी लुटेरे भी ईरान में सत्ता परिवर्तन करके अपने अनुकूल सरकार लाना चाह रहे हैं। यह भी सच है कि पश्चिमी साम्राज्यवादी देशों के हुक्मरानों ने ईरान में औरतों पर हो रहे ज़ुल्मों पर घड़ियाली आँसू भी बहाये हैं। ईरान के पूर्व बादशाह मोहम्मद रेज़ा शाह पहलवी के बेटे रेज़ा पहलवी ने भी खमेनी की सत्ता को बदलने की अपील की है और साम्राज्यवादियों के सामने ईरान में खमेनी की सत्ता के विकल्प के रूप में ख़ुद की दावेदारी पेश करने की क़वायद शुरू कर दी है। लेकिन समूचे आन्दोलन को पश्चिम द्वारा प्रायोजित बताने का कोई प्रमाण नहीं है। वैसे भी ऐसा विश्लेषण हमें 'कॉन्सपिरेसी थियरी' के गड्ढे में ले जायेगा क्योंकि यह ईरानी समाज के अन्दरूनी अन्तरविरोधों की अनदेखी कर बाहरी अन्तरविरोध को प्रधानता देता है।

सच तो यह है कि यह आन्दोलन औरतों पर लगातार हो रहे ज़ुल्मों के ख़िलाफ़ औरतों के स्वत:स्फूर्त विद्रोह के रूप में शुरू हुआ था जिसमें बाद में अन्य तबक़े जुड़ते चले गये। लेकिन इस आन्दोलन की स्वत:स्फूर्तता इसकी कमज़ोरी भी है क्योंकि एक संगठित नेतृत्व के अभाव में इसे व्यापक आधार वाले व सत्ता को चकनाचूर करने में सक्षम जनान्दोलन में तब्दील करना मुश्किल है। ऐसे सांगठनिक नेतृत्व की ग़ैर-मौजूदगी व सत्ता द्वारा बर्बर दमन करने की सूरत में यह आन्दोलन भले ही तात्कालिक तौर पर खमेनी की सत्ता को उखाड़ न पाये, लेकिन इतना तो तय है कि ईरान की औरतों द्वारा छेड़ी गयी यह ऐतिहासिक बग़ावत इस ज़ालिम निज़ाम के ताबूत की एक कील साबित होगी।

हम भारतीय मज़दूरों-मेहनतकशों को भी ईरान के इस जनान्दोलन को पूरा समर्थन देना चाहिए। लेनिन ने बताया था कि हर देश का मज़दूर वर्ग अपने दुश्मन पूँजीपति वर्ग का मुक़ाबला राजनीतिक तौर पर तभी कर सकता है, जबकि वह शोषण, उत्पीड़न और अन्याय की हर घटना के ख़िलाफ़ अपनी आवाज़ बुलन्द करे, चाहे वह दुनिया के किसी भी कोने में घटित हो। केवल तभी मज़दूर वर्ग एक राजनीतिक वर्ग के रूप में संगठित हो सकता है और केवल तभी वह पूँजीपति वर्ग की राजनीतिक सत्ता को उखाड़ फेंकने और अपनी राजनीतिक सत्ता को स्थापित करने का लक्ष्य पूरा कर सकता है।

यह न्याय व्यवस्था नहीं है बल्कि व्यवस्थित अन्याय, शोषण व उत्पीड़न पर आधारित अन्यायी व्यवस्था है!

(पेज 7 से आगे)

है बल्कि फ़ासीवादी संघ परिवार, भाजपा और मोदी-शाह के इशारों पर भी काम कर रही है। क्या कारण है कि फ़ासिस्टों के ख़िलाफ़ हर क़िस्म के राजनीतिक प्रतिरोध की ताक़तों व व्यक्तियों को क़ानूनी-संवैधानिक दायरे में औपचारिक तौर पर भी कोई राहत नहीं मिल पा रही है? स्पष्ट है कि न्यायपालिका के फ़ासीवादीकरण की दीर्घकालिक लम्बी प्रक्रिया अपने मुक़ाम पर पहुँच चुकी है।

पूँजीवादी विधिक अधिरचना यानी क़ानून, संविधान, न्यायपालिका, विधिक प्रणाली इत्यादि, *अन्तिम विश्लेषण में*, पूँजीवादी आर्थिक आधार, यानी पूँजीवादी निजी सम्पत्ति, पूँजीवादी सम्पत्ति सम्बन्धों व पूँजीवादी वितरण सम्बन्धों की ही विधिक तौर पर हिफ़ाज़त करती है, इन सम्बन्धों को विधिक-संवैधानिक रूपों में रेखांकित करती है, उन्हें क़ायम रखने का काम करती है, उन्हें क़ानूनी मान्यता और वैधीकरण देती है और क़ानून के दायरे में इन सम्बन्धों का उत्पादन और पुनरुत्पादन भी करती है। लेकिन साथ ही, **इस विधिक अधिरचना की आर्थिक मूलाधार से सापेक्षिक स्वायत्तता भी होती है जो ठीक इसी कारण से इसे अधिक वर्चस्वकारी बनाती है।** यह अनायास नहीं है कि आम जनता के हिस्सों में भी प्रायः बिना किसी सचेत राजनीतिक चेतना के पूँजीवादी दलों, सरकारों, अफ़सरशाही, नौकरशाही, पुलिस आदि को कोसते हुए कई लोग मिल जाते हैं, उनकी असलियत को एक हद तक पहचानते और समझते हुए दिख जाते हैं, लेकिन न्यायपालिका के विषय में अक्सर लोगों के बीच में भ्रम रहता है कि कहीं और इन्साफ़ मिले न मिले, अदालतों में न्याय अवश्य मिलेगा। **यह भ्रम न्यायपालिका के वर्चस्वकारी चरित्र से ही पैदा होता है जो आम तौर पर, बुर्जुआ जनवाद के दौर में कुछेक 'लैण्डमार्क" निर्णयों या आदेशों के तौर पर सामने आता भी रहता है।** लेकिन यही सापेक्षिक स्वायत्तता फ़ासीवादी उभार के दौर में उतनी सापेक्षिक नहीं रह जाती है। **यह पूँजीवाद की सेहत के लिए भी गुणकारी नहीं है कि न्यायपालिका सीधे और प्रत्यक्ष तौर पर पूँजी के हितों से, राज्य के अन्य अंगों-उपांगों से और राजनीतिक दलों से सम्बद्ध दिखलाई पड़े इसलिए ही तो शक्तियों के पृथक्करण का संवैधानिक स्वांग रचा जाता है।** हालाँकि फ़ासीवाद के दौर में बुर्जुआ जनवाद का यह वर्चस्वकारी मैकेनिज़्म ठीक से काम करना बन्द कर देता है। **बड़ी एकाधिकारी पूँजी की नग्न तानाशाही अब अदालतों में भी खुलकर सामने आती है।** कहना न होगा कि बुर्जुआ जनवादी लोकतंत्र के दौर में भी न्यायपालिकाओं का वास्तविक चरित्र उजागर होता ही रहता है।

अभी हम उन दैनन्दिन के अदृश्य अनगिनत मसलों की बात भी नहीं कर रहे हैं जो पूँजीवादी न्याय व क़ानून व्यवस्था की जनद्रोही प्रकृति और चरित्र को एक आम ग़रीब अधिकारविहीन मज़दूर के आगे उघाड़कर रख देता है। इस देश का आम मेहनतकश-मज़दूर या ग़रीब इन्सान तो इन्साफ़ पाने के लिए उच्चतम न्यायलय तक पहुँचने का सपना भी नहीं देख सकता है। हम उन असंख्य मामलों की बात भी यहाँ नहीं कर रहे हैं जिनमें अदालतों ने सीधे तौर पर या तो मज़दूर-विरोधी फ़ैसले सुनाये हैं या फिर मज़दूर-विरोधी रवैया अपनाया है; चाहे वह मारुति मज़दूरों का मामला रहा हो या फिर दिल्ली की आन्दोलनरत आंगनवाड़ीकर्मियों का मसला हो। हम यहाँ अभी ऐसे सारे संख्यातीत मामलों का ज़िक्र तक नहीं कर रहे हैं। लेकिन फिर भी वर्तमान उपस्थित मामले में भी यह बात क्या अपने आप में ही पूँजीवादी अदालतों और न्याय व्यवस्था की पोल नहीं खोल देती है कि पाँच साल तक एक ऐसे व्यक्ति को जेल में रखा जाता है जो कि 80 प्रतिशत से ज़्यादा विकलांग है और अपने पैरों पर चल भी नहीं सकता, यही नहीं उस व्यक्ति को अपनी क़ैद की एक लम्बी अवधि अमानवीय 'अण्डा सेल' में बितानी पड़ी है? स्वास्थ्य के आधार पर उनकी ज़मानत की सभी अपीलें बार-बार ख़ारिज की जाती रही हैं और हाल में ही जेल की जगह घर में नज़रबन्द किये जाने की अपील भी ख़ारिज कर दी गयी है। उपरोक्त मामले में जी.एन. साईबाबा के अलावा, प्रशान्त राही, हेम मिश्रा, विजय तिकरी और महेश तिकरी भी कई वर्ष जेलों में बिता चुके हैं और कई यातनाओं से गुज़र चुके हैं। यही नहीं, इस वक़्त भी ना जाने कितने ही राजनीतिक क़ैदी, बिना दोषसिद्धि, के जेलों में क़ैद हैं और इन्साफ़ की उम्मीद ही छोड़ चुके हैं। सीएए-एनआरसी के ख़िलाफ़ हुए आन्दोलन के बाद चले दमनचक्र में कई बेक़सूर मुसलमान युवक, नागरिक व अन्य राजनीतिक-सामिजिक कार्यकर्ता भी यूएपीए जैसे काले क़ानून के अन्तर्गत दर्ज फ़र्ज़ी मामलों में सलाख़ों के पीछे हैं। उसके पहले यलगार परिषद् मामले में भी यही कथानक दुहराया जा चुका था।

लेकिन सत्ता पक्ष यानी फ़ासीवादी भाजपा व संघ परिवार से जुड़े या संरक्षण प्राप्त दंगाइयों, बलात्कारियों-व्याभिचारियों, भ्रष्टाचारियों व हत्यारों को कोई सज़ा नहीं मिलती है। फ़र्ज़ी मुठभेड़ करवाने और करने वालों को, झूठे आरोप व साक्ष्य गढ़ने वालों को, फ़र्ज़ी मुक़दमे चलाने वालों के ख़िलाफ़ अदालतें और न्यायाधीश चूं तक नहीं करते हैं। आडवाणी, अमित शाह, आदित्यनाथ से लेकर प्रज्ञा सिंह ठाकुर, संगीत सोम, असीमानन्द "बाइज़्ज़त बरी" कर दिये जाते हैं और इनके ख़िलाफ़ दर्ज हत्याओं, दंगों, धार्मिक उन्माद फैलाने, नफ़रती भड़काऊ भाषणों के तमाम मामले रातोंरात काफ़ूर हो जाते हैं। **दरअसल, फ़ासीवाद के मौजूदा दौर में इस देश की न्यायिक व्यवस्था भी नहीं चाहती है कि उसके चरित्र को लेकर कोई भ्रम या मुग़ालता पाला जाये!**

अब अन्त में थोड़ी-सी बात इस देश के प्रगतिशील-लिबरल तबक़े पर भी। साईबाबा मामले में बम्बई हाई कोर्ट के आदेश पर लहालोट हो उठे इस देश के प्रगतिशीलों, उदारवादियों को सुप्रीम कोर्ट के इस रवैये से ख़ासा धक्का पहुँचा है। दरअसल बम्बई उच्च न्यायलय का फ़ैसला भी मुक़दमे की कार्रवाई में अभियोजन पक्ष की ओर से की गयी तकनीकी चूकों पर आधारित था न कि मौलिक विधि सम्बन्धी प्रश्नों मसलन साक्ष्यों, मानवाधिकारों या संवैधानिक अधिकारों की सही व्याख्या पर। यानी उच्च न्यायालय के फ़ैसले पर जिनके दिल बल्लियों उछल रहे थे वे बेजा ही ख़ुशियाँ मना रहे थे। वास्तव में, इन डूबतों को तिनके का सहारा मिल गया था! यह "प्रगतिशील" तबक़ा वही है जिसे जनता की ताक़त में कोई भरोसा नहीं है, उल्टे जनता इसे हर दम निराश ही करती है। इन "प्रबुद्ध" नागरिकों की नज़रों में जनता अपढ़, गंवार, अपने भले-बुरे की पहचान करने की क्षमता से रिक्त झुण्ड है, एक 'मॉब' है जो किसी राह चल सकती है! और फ़ासीवादी उभार के ख़िलाफ़ बतौर प्रतिरोध इस तबक़े को कभी राहुल गाँधी, ममता बैनर्जी, अरविन्द केजरीवाल तो कभी नितीश कुमार उम्मीद की किरण के तौर पर नज़र आते हैं या फिर कभी इसे धनी किसानों-कुलकों के द्वारा एमएसपी यानी बेशी मुनाफ़े के लिए किया गया आन्दोलन मोदी-शाह और फ़ासीवाद को चुनौती देता हुआ नज़र आता है। इतिहासदृष्टि से रिक्त इस तबक़े की स्थिति इस वक़्त सबसे ज़्यादा दयनीय है। मुख्य सवाल तो यह है कि क्या वाक़ई में सुप्रीम कोर्ट के इस आदेश में कोई ताज्जुब करने की बात है? क्या विशेषकर पिछले 8 साल का न्यायिक इतिहास यह साफ़ नहीं कर देता है कि उच्चतम न्यायालय से लेकर निचली अदालतों तक न्याय व्यवस्था की क्या गत बन चुकी है? **फ़ासीवाद के भारतीय संस्करण के उभार के लम्बे ऊष्मायन काल में भारतीय फ़ासिस्टों ने तमाम बुर्जुआ संस्थानों में तफ़सील के साथ व्यवस्थित तौर पर घुसपैठ की है जिसके परिणाम आज सभी के सामने हैं।** "महान" भारतीय पूँजीवादी लोकतंत्र का ऐसा कोई भी निकाय आज बचा नहीं है जो फ़ासीवादीकरण की प्रक्रिया से अछूता रहा हो और यह काम भारतीय फ़ासिस्टों ने "महान" भारतीय संविधान से बिना किसी प्रत्यक्ष छेड़छाड़ के अंजाम दिया है। बावजूद इसके यह "प्रगतिशील", "प्रबुद्ध" नागरिक "महान" बुर्जुआ लोकतंत्र की "महान" न्याय व्यवस्था में अपनी श्रद्धा बरक़रार रखेंगे!

हमें इन "प्रगतिशीलों", उदारवादियों को इनके हाल पर छोड़ देना चाहिए जो हर ऐसे छद्म आशावाद के बाद और गहरी निराशा में डूबते हैं और विलाप-प्रलाप करते हुए पाये जाते हैं। तो आज किस चीज़ की ज़रूरत है? आज इस देश की मज़दूर-मेहनतकश जमातों और हर उस इन्साफ़पसन्द व्यक्ति को समझना होगा कि यह न्यायिक व्यवस्था, ये क़ानून-संविधान, ये कोर्ट-कचहरियाँ उनके लिए नहीं है, यह व्यवस्था ही उनके लिए और उनकी नहीं है। यह भ्रम जितनी जल्दी टूटेगा उतनी ही जल्दी सच्चे न्याय और सच्ची समानता पर आधारित व्यवस्था, जो महज़ औपचारिक तौर पर काग़ज़ों में दर्ज-मात्र नहीं होगी, स्थापित और बहाल करने की जंग शुरू की जा सकेगी और फ़ासीवाद के विरुद्ध भी कोई कारगर जुझारू मोर्चा खुल पायेगा। इस बर्बर शोषक दमनकारी व्यवस्था और इसके अंगों-उपांगों को बनाये और बचाये रखने में शोषकों और उत्पीड़कों का हित है, मज़दूरों-मेहनतकशों का नहीं।

इंग्लैण्ड का नया दक्षिणपन्थी प्रधानमंत्री ऋषि सुनक और बेगानी शादी में दीवाने देश-विदेश के भारतीय मूर्ख दक्षिणपन्थी अण्डभक्त

(पेज 24 से आगे)

आदि जैसे सोशल मीडिया के मैसेज तो देश-विदेश दोनों ही जगह मौजूद अण्डभक्तों ने थोकभाव से डाले।

कोई वजह है कि दक्षिणपन्थी हर जगह एक-दूसरे को पहचान लेते हैं। उधर ऋषि सुनक ठहरा कट्टर हिन्दू, पूँजीपरस्त, मज़दूर-विरोधी दक्षिणपन्थी, इधर हमारे मोईजी ठहरे अदानी-अम्बानी के चौकीदार, मज़दूर-विरोधी फ़ासीवादी। उधर ऋषि सुनक ठहरा मार्गरेट थैचर जैसी धुर-प्रतिक्रियावादी मेहतनकश-विरोधी का विचारधारात्मक दत्तक-पुत्र, इधर मोईजी ठहरे हिटलर-मुसोलिनी, सावरकर-हेडगेवार-गोलवलकर के विचारधारात्मक-राजनीतिक वंशज! उधर ऋषि सुनक ठहरा इंग्लैण्ड की सबसे प्रतिक्रियावादी, जनविरोधी कंज़रवेटिव पार्टी का प्रधानमंत्री और इधर मोईजी ठहरे भारत की फ़ासीवादी पार्टी के सरगना! जब दिल मिले-मिले-मिले दिल मिले, तब गुल खिले-खिले-खिले गुल खिले! वहाँ के सुनक के प्रशंसक मोदी के प्रशस्ति-गान गाते हैं और यहाँ मोदी के अण्डभक्त सुनक की फ़ोटो पर अगरबत्ती जलाते हैं, माला चढ़ाते हैं! प्रतिक्रियावादी और दक्षिणपन्थी एक-दूसरे को पहचान ही लेते हैं। इसी प्रकार, अण्डभक्तों ने (भारत और विदेश दोनों जगह मौजूद!) ट्रम्प, कमला हैरिस, पुतिन आदि के लिए भी अपने आदरभाव समय-समय पर अभिव्यक्त किये हैं।

वजह यह है कि सारे प्रकार का कट्टरपन्थ और शावनवाद मज़दूरों और मेहनतकशों के प्रति नफ़रत के अपने साझा गुण से एक-दूसरे को पहचान लेते हैं। इनके विचारधारात्मक व राजनीतिक वजूद से एक ख़ास क़िस्म की बदबू आती है और एक-दूसरे की बदबू सूँघते-सूँघते ये एक दूसरे को ढूँढ़ ही लेते हैं।

हम मज़दूरों को इस प्रकरण से क्या सीखने को मिला? यह कि हमें दक्षिणपन्थियों (अचेत और सचेत!) की पहचान करने का एक और पैमाना मिल गया। जिस प्रकार हमने ट्रम्प और पुतिन जैसों के देश-विदेश में भारतीय प्रशंसकों से अपने दुश्मन दक्षिणपन्थियों की पहचान करना सीखा था, वैसे ही हम ऋषि सुनक नामक धुर दक्षिणपन्थी, प्रतिक्रियावादी, हिन्दू कट्टरपन्थी और मज़दूरों-मेहनतकशों के दुश्मन के प्रशंसकों और अण्डभक्तों की पहचान करके भी जान सकते हैं हमारे दुश्मन कौन हैं।

अक्टूबर क्रान्ति की स्मृति और विरासत का आज हम मज़दूरों-मेहनतकशों के लिए क्या अर्थ है?

(पेज 1 से आगे)

रोज़ यह सिखाती है कि हम मज़दूरों-मेहनतकशों के हित हमारे मालिकों, ठेकेदारों, जॉबरों, बिचौलियों, धनी फ़ार्मरों आदि से अलग, बल्कि उनके विपरीत हैं। पूँजीवादी उत्पादन में हमारी जगह ही कुछ ऐसी होती है कि मालिकों की जमात के नज़रिए और सोच के हमारे ऊपर असर के बावजूद हम किसी न किसी हद तक सच्चाई से भी रूबरू होते रहते हैं। यदि मज़दूर वर्ग की क्रान्तिकारी पार्टी, यानी कम्युनिस्ट पार्टी मौजूद हो, तो वह इस सच्चाई के पीछे मौजूद कारणों को उजागर कर सकती है, मज़दूर वर्ग के व्यापक जनसमुदायों और जनता को पूँजीवादी विचारधारा के असर से आज़ाद कर सकती है, मज़दूर वर्ग के हिरावल तत्वों यानी सबसे उन्नत तत्वों को एक राजनीतिक वर्ग यानी सर्वहारा वर्ग के रूप में संगठित कर सकती है और सर्वहारा सत्ता की स्थापना के लिए समाजवादी क्रान्ति को अंजाम देने में समूची मेहनतकश जनता की अगुवाई कर सकती है। *राजनीतिक वर्ग वह होता है, जो अपनी राज्यसत्ता, अपना शासन स्थापित करने के लक्ष्य को पूरा करने के प्रति सचेत और संगठित होता है।*

आप पूछेंगे कि क्या ऐसा कभी वाक़ई हुआ है? जी हाँ! हुआ है। रूसी कैलेण्डर के अनुसार, 1917 के अक्टूबर महीने में रूस के सर्वहारा वर्ग ने अपनी कम्युनिस्ट पार्टी, जिसका नाम बोल्शेविक पार्टी था, की अगुवाई में पूँजीपतियों और पूँजीवादी ज़मीन्दारों की सत्ता को एक क्रान्ति के ज़रिए उखाड़ फेंका और मज़दूर राज की स्थापना की। हमारे कैलेण्डर के अनुसार, यह महान घटना 7 नवम्बर 1917 को हुई थी। इस मज़दूर राज के पहले व्यवस्थित प्रयोग का जीवन 36 वर्षों तक चला। उसके बाद पूँजीपति वर्ग ने मज़दूर वर्ग की सत्ता को गिराकर पूँजीवादी व्यवस्था की पुनर्स्थापना कर दी। यह कोई अनोखी बात नहीं थी। जब पूँजीपति वर्ग ने सामन्ती ज़मीन्दारों, राजे-रजवाड़ों और चर्च की सत्ता को दुनिया में पहली बार ज़मीन्दोज़ किया था तो उसकी सत्ता तो एक दशक भी मुश्किल से चली थी। हम 1789 की फ़्रांसीसी पूँजीवादी क्रान्ति की बात कर रहे हैं। उसके बाद भी कई देशों में पूँजीपति वर्ग द्वारा की गयी क्रान्तियाँ मुश्किल से एक-दो दशक ही चल पायीं। लेकिन चूँकि सामन्ती वर्ग इतिहास का डूबता सूरज था और नया जन्मा पूँजीपति वर्ग इतिहास का उगता सूरज था इसलिए उन्नीसवीं सदी का अन्त आते-आते यूरोप के कई उन्नत देशों में पूँजीपति वर्ग ने सामन्ती वर्ग को निर्णायक तौर पर शिकस्त दे दी थी। *इसलिए समाजवादी क्रान्ति और मज़दूर राज के पहले प्रयोग का अन्ततः गिर जाना भी कोई अनहोनी-अनोखी घटना नहीं थी। यह तो इतिहास की गति है। हर नयी व्यवस्था कई असफल, अर्द्धसफल प्रयोगों के बाद ही टिकाऊ तौर पर स्थापित होती है।*

लेकिन क्या आप जानते हैं कि सर्वहारा वर्ग ने अपने परिपक्व होने की शुरुआती मंज़िल में ही रूस में समाजवादी व्यवस्था के अपने पहले प्रयोग के 36 वर्षों में ही क्या चमत्कारिक उपलब्धियाँ हासिल की थीं? इन 36 वर्षों में सर्वहारा वर्ग ने सोवियत संघ में बेरोज़गारी का पूरी तरह से ख़ात्मा कर दिया, अशिक्षा को ख़त्म कर दिया, जनता को बेहतरीन भोजन, घर, स्कूल, कॉलेज, अस्पताल दिये और उनके जीवन-स्तर को दर्जनों गुना ऊँचा कर दिया, पूँजीपतियों से सभी खान-खदान, खेत-खलिहान और कल-कारख़ाने छीन लिये गये और मज़दूरों के उजरती श्रम के शोषण पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगा दिया गया; ग़रीब और मँझोले किसानों को छोटे पैमाने की खेती के अभाव से बाहर निकालकर उनके विशालकाय सहकारी, सामूहिक और सरकारी फ़ार्म बनाये गये, जिनमें इन मेहनतकश किसानों को बेहतरीन जीवन मिला, उनके बच्चों को शानदार शिक्षा, रोज़गार, आवास, चिकित्सा आदि हासिल हुई; देश से भुखमरी और कुपोषण पूरी तरह से समाप्त हो गया, वेश्यावृत्ति का ख़ात्मा हो गया, औरतों को चूल्हे-चौके की ग़ुलामी से आज़ादी दिलाने की महान शुरुआत हुई जिसके लिए विशालकाय सामूहिक रसोई घर और शिशु पालना गृह बनाये गये जिससे घर-गृहस्थी के काम और बच्चों के लालन-पालन का समाजीकरण हुआ। इसके अलावा, मज़दूरों के राज वाला यह देश विज्ञान और तकनोलॉजी में भी दुनिया में सबसे आगे निकल गया। इस देश ने पहली बार अन्तरिक्ष में इन्सान को भेजा, पहला कृत्रिम उपग्रह तैयार किया, तमाम लाइलाज बीमारियों का इस देश के मज़दूरों के वैज्ञानिक बेटे-बेटियों ने इलाज निकाल दिया। समूची जनता को सामाजिक-आर्थिक असुरक्षा से मुक्ति दिलायी गयी।

अभी बहुत काम बाक़ी था। क्योंकि ये सारी उपलब्धियाँ हासिल करने की प्रक्रिया में अभी मज़दूर वर्ग को राजनीतिक शासन और आर्थिक प्रबन्धन सीखने का बहुत-सा काम बाक़ी था। अभी समाज में समूचे उत्पादन को पूर्ण रूप से समाजीकृत करने का काम अभी बाक़ी था। अभी पूँजीपति वर्ग का शासन राजनीतिक तौर पर ख़त्म हुआ था, लेकिन उसकी विचारधारा का वर्चस्व पूर्ण रूप से ध्वस्त करना अभी बाक़ी था। लेकिन तभी 1953 में मज़दूर वर्ग के महान नेता और शिक्षक स्तालिन की मृत्यु के बाद सोवियत संघ में सर्वहारा वर्ग का शासन गिर गया और पूँजीवाद की पुनर्स्थापना हो गयी। ऐसा क्यों हुआ इस पर हम आज बात करेंगे, लेकिन उससे पहले अक्टूबर क्रान्ति की महान विरासत से कुछ परिचित होना, उसके आज भी जारी महत्व को समझना और उससे सीख लेकर भविष्य की नयी सर्वहारा समाजवादी क्रान्ति की तैयारियों की शुरुआत करने के विषय में बात करना ज़रूरी है। इसलिए भी कि पिछले छह दशकों के दौरान दुनियाभर में सर्वहारा वर्ग और क्रान्तिकारी शक्तियों की पराजय का जो सिलसिला जारी रहा है उसने हमारी जमात की सामूहिक याददाश्त को चोट पहुँचायी है, हमारे आत्मविश्वास को तोड़ा है, और इसकी वजह से हममें से तमाम मज़दूर भाइयों-बहनों पर पूँजीवादी विचारधारा के इस दावे का असर है कि हमारी नियति ही शोषित और उत्पीड़ित होते रहना है और मौजूदा शासन तो "रघुकुल रीत" है जो सदा से चली आयी है और हमेशा चलती रहेगी। ***हम भूल बैठे हैं कि हम मालिकों की जमात से लड़ सकते हैं और न सिर्फ़ लड़ सकते हैं, बल्कि जीत सकते हैं।***

हम भूल बैठे हैं कि हम अतीत में भी लड़े थे और जीते थे और भविष्य में भी लड़ेंगे और जीतेंगे। हम भूल बैठे हैं कि जब तक मज़दूरों और मेहनतकशों का शोषण क़ायम है, जब तक मुनाफ़े की हवस पर टिकी पूँजीवादी व्यवस्था क़ायम है, तब तक दुनिया बेरोज़गारी, युद्ध, विनाश, ग़रीबी और महँगाई, और पर्यावरणीय तबाही की विभीषिका झेलती रहेगी और यह स्थिति हमेशा बरक़रार नहीं रह सकती है। **हर व्यवस्था का उदय और अस्त होता है और पूँजीवादी व्यवस्था का भी एक आदि है और एक अन्त है। यह इतिहास की शिक्षा है। न तो कुदरत में सबकुछ ठहरा रहता है और न ही समाज में। यदि कुछ स्थायी है तो वह केवल परिवर्तन है।** 105 साल पहले सर्वहारा वर्ग ने रूस में, 73 साल पहले सर्वहारा वर्ग ने चीन में और पिछले 50 वर्षों के दायरे में कोरिया में, वियतनाम में और अन्य कई देशों में सर्वहारा वर्ग ने इस बात को साबित किया था। क्रान्तियों के इस पहले दौर के समापन के बाद हार और क़दम पीछे हटाने के लम्बे दौर में पैदा हुई निराशा और पराजयबोध को त्यागकर नये सिरे से संगठित होने का दौर आज आ चुका है। पूँजीवादी व्यवस्था पूरी दुनिया में अब तक के भयंकरतम आर्थिक संकट में घिरी हुई है। दुनिया के तमाम हिस्सों में साम्राज्यवादी युद्ध हो रहे हैं या उनकी तैयारियाँ चल रही हैं जो विश्व पूँजीवाद की पहले से कहीं ज़्यादा गहरी अन्दरूनी कमज़ोरी को ही दिखला रहे हैं। हमारे देश में भी पूँजीपति वर्ग मुनाफ़े की गिरती औसत दर के संकट से बिलबिला रहा है और उससे निजात पाने के लिए फ़ासीवादी मोदी-शाह सत्ता की शरण में है ताकि वह मज़दूरों-मेहनतकशों का दमन करे और देश की मेहनत और कुदरत को और बुरी तरह से लूटने की आज़ादी पूँजीपति वर्ग को दे। **यही समय है कि हम निराशा त्यागें, आलस छोड़ें, साहस करें और संगठित हों। और इसीलिए आज अक्टूबर क्रान्ति की विरासत और सीख को जानना भी हमेशा से ज़्यादा ज़रूरी है। अक्टूबर क्रान्ति के ये ऐतिहासिक सबक़ क्या हैं? आइए, इन्हें समझते हैं।**

1. मज़दूर वर्ग लड़ सकता है और जीत सकता है!

अक्टूबर क्रान्ति की सबसे पहली सीख यही है, जिसे विशेष तौर पर आज के दौर में याद दिलाना बेहद ज़रूरी है। मज़दूर वर्ग लड़ सकता है और जीत सकता है। न सिर्फ़ वह ट्रेड यूनियन के आर्थिक संघर्षों को लड़ सकता है और जीत सकता है बल्कि वह वेतन-भत्ता के संघर्ष से आगे जाकर राजनीतिक सत्ता का संघर्ष भी लड़ सकता है और जीत सकता है। वह पूँजीपति वर्ग की सत्ता को उखाड़कर फेंक सकता है और अपनी सर्वहारा सत्ता को स्थापित कर सकता है। इसका सबसे बड़ा उदाहरण रूस में सर्वहारा वर्ग की सत्ता की 1917 में स्थापना था। ये हमारे और आप जैसे मज़दूर ही थे, जिन्होंने संगठित होकर अपनी पार्टी बनायी, समूची मेहनतकश जनता को अपने पक्ष में संगठित किया और पूँजीपतियों और पूँजीवादी ज़मीन्दारों की सत्ता को अक्टूबर 1917 में उखाड़ फेंका।

इससे इतना स्पष्ट है कि हमेशा पूँजीपति वर्ग के जुए तले खटते रहना हमारी नियति या क़िस्मत का लेखा नहीं है। अगर हम आज समाज में सुई से लेकर जहाज़ तक हरेक वस्तु और हरेक ज़रूरी सेवा का उत्पादन कर सकते हैं, तो हम इस देश की अर्थव्यवस्था और शासन को भी चला सकते हैं। हम ही बहुसंख्यक आबादी हैं। भारत में भी अगर मज़दूर वर्ग की बात करें तो वह क़रीब 50 से 55 करोड़ है। अगर हम इसमें अर्द्धसर्वहारा वर्ग, ग़रीब और निम्न-मँझोले किसानों और मँझोले व निम्न-मध्यवर्ग को मिला दें तो मेहनतकश जनता की कुल आबादी क़रीब 80 से 90 करोड़ बैठती है।

फिर पूँजीपति वर्ग हम पर कैसे शासन करता है? हमें बाँटकर और खण्ड-खण्ड में तोड़कर। वह हमें धर्म, जाति, भाषा, क्षेत्र और लिंग के आधार पर बाँट देता है और तोड़ देता है। आज हमारे देश में संघ परिवार और उसकी मोदी-शाह सरकार यही कर रही है। वह हिन्दू-मुसलमान, मन्दिर-मस्जिद के नाम पर मेहनतकश जनता को बाँटती है और आपस में लड़ाती है और फिर मेहनतकशों की चिताओं पर अपनी राजनीतिक रोटियाँ सेंककर सत्ता में पहुँचती है। इसी प्रकार अन्य पूँजीवादी पार्टियाँ भी हमें क्षेत्र, जाति और भाषा के नाम पर तोड़ने का काम करती हैं। रूस में भी रूस के पूँजीपति वर्ग ने रूसी मज़दूर वर्ग को राष्ट्र और भाषा के नाम पर यहूदी और ग़ैर-यहूदी मज़दूरों के नाम पर बाँटने का काम किया था। लेकिन रूस की क्रान्तिकारी सर्वहारा पार्टी यानी बोल्शेविक पार्टी के नेतृत्व में रूस के मज़दूरों ने इस बात को समझा कि राजनीतिक तौर पर मज़दूरों का कोई राष्ट्र नहीं होता है, हालाँकि सामाजिक तौर पर वे भी किसी राष्ट्र में पैदा होते हैं; मज़दूर धर्म के बँटवारे को नहीं मानते हैं, धर्म को पूर्णतः निजी मसला मानते हैं और राजनीति और सामाजिक जीवन में धर्म को मिलाने की हर साज़िश का विरोध करते हैं; मज़दूर हर भाषा को बराबर दर्जा देते हैं; मज़दूर क्षेत्रों के बँटवारे को नहीं मानते क्योंकि हर जगह मज़दूर वर्ग को पूँजीपति वर्ग से उसका अन्तरविरोध और उत्पादन के साधनों से पूर्ण रूप से वंचित होकर श्रमशक्ति को बेचने की उसकी मजबूरी उसे एक बना देती है।

इन उसूलों को बोल्शेविक पार्टी के नेतृत्व में रूस के सर्वहारा वर्ग ने समझा और उससेनिकलने वाले कार्यक्रम पर रूस के मज़दूर वर्ग और मेहनतकश आबादी के जनसमुदायों को सहमत किया। **नतीजतन, रूसी सर्वहारा वर्ग एकजुट और संगठित हुआ और उसने 'बाँटो और राज करो' की रूसी पूँजीपति वर्ग की नीति को लात मारकर किनारे लगाया और अपनी अजेय शक्ति को संगठित कर सर्वहारा क्रान्ति को अंजाम दिया।** यह आज भारत के हम मज़दूरों-मेहनतकशों के लिए सबसे बड़ा सबक़ है।

अगर हम लड़ना चाहते हैं, लड़कर जीतना चाहते हैं, तो हमें पूँजीपति वर्ग

(पेज 12 पर जारी)

रूस की महान सर्वहारा समाजवादी क्रान्ति का आज मज़दूर वर्ग के लिए क्या महत्व है? रूस में 36 वर्षों के मज़दूर राज के आज मज़दूरों और ग़रीब किसानों के लिए क्या मायने हैं?

(पेज 11 से आगे)

द्वारा बाँटने और आपस में लड़ाने की हर साज़िश को नाकामयाब करना होगा और राजनीतिक तौर पर एकजुट और संगठित होना होगा, चाहे हमारा धर्म, जाति, भाषा, राष्ट्र, क्षेत्र, लिंग या जेण्डर कुछ भी हो। अगर हम एक राजनीतिक वर्ग के रूप में संगठित हो गये तो हम लड़ सकते हैं, हम जीत सकते हैं और अपनी जीत को क़ायम भी रख सकते हैं।

2. मज़दूर वर्ग उत्पादन, राज-काज और समूची व्यवस्था को चला सकता है!

ज़रा एक पल को सोचिए : आज अगर देशभर के कल-कारख़ानों, खानों-खदानों और खेतों-खलिहानों के मालिक, ठेकेदार और जॉबर मर जायें या भाप बनकर उड़ जायें तो क्या किसी भी कल-कारख़ाने, खान-खदान या खेत-खलिहान में उत्पादन का कोई काम रुकेगा? जी नहीं! इसीलिए मज़दूर वर्ग के महान नेता फ़्रेडरिक एंगेल्स ने कहा था कि पूँजीपतियों का समूचा वर्ग आज सामाजिक तौर पर ग़ैर-ज़रूरी हो गया है। एक समय में, यानी आधुनिक काल की शुरुआत में, दूसरे शब्दों में, पन्द्रहवीं-सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी और एक हद तक अट्ठारहवीं शताब्दी तक उभरते पूँजीपति वर्ग की उत्पादन व उसके प्रबन्धन की समूची प्रक्रिया में कोई भूमिका होती थी। इनमें से कई दस्तकार व कारीगरों के बीच से उठकर उस्ताद दस्तकार-कारीगर बने थे, आगे चलकर उन्होंने शागिर्द के तौर पर कामगारों को रखने की शुरुआत की और अपने वर्कशॉप आदि खोले थे और कालान्तर में उनमें से एक हिस्सा पूँजीपति बन गया था और उसने अपने आपको शारीरिक श्रम से काट लिया था। एक समय तक इस वर्ग की उत्पादन के काम में कोई भागीदारी थी। जो व्यापारी से पूँजीपति बने थे, वे तो शुरू से ही हर उत्पादक श्रम से कटे हुए थे, हालाँकि प्रबन्धन और लेखा-सम्बन्धी काम में शुरू में उनकी भी भागीदारी थी। एक समय तक इस उभरते पूँजीपति वर्ग की प्रबन्धन और हिसाब-किताब के ज़रिए उत्पादन के विनियमन में एक भूमिका थी। लेकिन आज यह काम भी इनके द्वारा भाड़े पर रखे गये कुशल व बौद्धिक मज़दूर ही कर रहे हैं। *नतीजतन, उन्नीसवीं सदी बीतते-बीतते पूँजीपति वर्ग पूरी तरह से महज़ मुनाफ़ा विनियोजित करने वाला, शेयर बाज़ार में सट्टा खेलने वाला और कूपन काटने वाला एक वर्ग बन चुका था।* और आज तो इसकी परजीविता, अश्लीलता और भद्देपन की सारी हदें पार कर चुकी है जो मेहनतकश जनता के आँसुओं के समन्दर के बीच ऐश्वर्य के टापुओं पर बैठे पूँजीपति वर्ग की घिन पैदा करने वाली अय्याशियों और रंगरलियों में पूरी तरह से नज़र आती है। **सामाजिक उत्पादन में उसकी कोई भूमिका नहीं है। वह शुद्ध रूप से एक जोंक है जो मज़दूरों और मेहनतकशों के श्रम के उत्पाद को लूटकर जीवित है।**

आज उत्पादन के शुरू से अन्त तक के सारे काम मज़दूर वर्ग को पूँजीवाद ने स्वयं ही सिखा दिये हैं चाहे वह उत्पादन के शारीरिक श्रम के कार्य हों, कारख़ाने के स्तर पर उसे विनियमित और प्रबन्धित करने के काम हों, बहीखाता चलाने के काम हों या फिर कुछ और। शारीरिक और बौद्धिक मज़दूर वर्ग ही इन सारे कामों को अंजाम देता है। इनमें से किसी में भी पूँजीपति वर्ग की कोई भूमिका नहीं है और यह परजीवी वर्ग बहुत पहले ही अपने अस्तित्व के प्रयोजन को यानी अपने वजूद को सही ठहराने की सभी वजहों को गँवा चुका है। वहीं दूसरी ओर मज़दूर वर्ग के पास हर वजह है कि वह समूचे उत्पादन और उत्पादन के साधनों पर अपना दावा ठोंके, पूँजीपतियों के परजीवी वर्ग से उन्हें छीन ले और समूचे समाज के मेहनतकश वर्गों के हितों के अनुसार समूचे सामाजिक उत्पादन और राजनीतिक व्यवस्था को संचालित करे। **मज़दूर वर्ग यह कर सकता है और यह कर चुका है, भले आज विस्मृति के अँधेरे में हमें ऐसा लग सकता है कि हम इस क़ाबिल नहीं हैं।** लेकिन जैसे ही हम निराशा और पस्तहिम्मती छोड़कर वैज्ञानिक और ऐतिहासिक तौर पर सोचते हैं, तो समझ लेते हैं कि निश्चित ही हम समूचे उत्पादन, राज-काज और समाज के ढाँचे को संचालित कर सकते हैं और पूँजीपति वर्ग की इसके लिए कोई आवश्यकता नहीं है। रूस में और फिर चीन में और फिर कई देशों में सर्वहारा क्रान्तियों के पहले चक्र में सर्वहारा वर्ग ने यह काम कर दिखाया था। इसलिए हम किसी शेख़चिल्ली के सपने की बात नहीं कर रहे हैं, बल्कि एक हक़ीक़त की बात कर रहे हैं।

अक्टूबर क्रान्ति द्वारा स्थापित हुई समाजवादी व्यवस्था की दूसरी सबसे बड़ी शिक्षा यही है कि हम आम मज़दूर-मेहनतकश अपनी इन्क़लाबी कम्युनिस्ट पार्टी की अगुवाई में, यानी अपने सर्वाधिक उन्नत तत्वों के दस्ते की अगुवाई में, समूचे उत्पादन, राज-काज और समाज को चला सकते हैं, सभी राजनीतिक और आर्थिक फ़ैसले ले सकते हैं और न सिर्फ़ ये सारे काम हम कर सकते हैं, बल्कि पूँजीपति वर्ग से कहीं बेहतर तरीक़े से कर सकते हैं जिससे कि समाज को बेरोज़गारी, ग़रीबी, महँगाई, असुरक्षा और अनिश्चितता से मुक्ति दिलायी जा सके। यह महज़ कोई खोखला नारा या दावा नहीं है। सोवियत संघ में क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग ने अपनी पार्टी के नेतृत्व में यह कर दिखाया था। आज दुनिया को पूँजीपति वर्ग और उसकी पूँजीवादी व्यवस्था की कोई ज़रूरत नहीं है, उल्टे आज वे दुनिया को आगे बढ़ने से रोक रही हैं। **पूँजीवाद नामक यह बूढ़ी मुर्ग़ी आज दुनिया को युद्ध, तबाही, बेरोज़गारी, महँगाई, ग़रीबी, पर्यावरणीय विनाश, और संकट जैसे सड़े हुए अण्डों के अलावा कुछ नहीं दे सकती है और इसकी सही जगह इतिहास की कचरा-पेटी है। और इसे कचरा-पेटी में पहुँचाने का काम केवल एक ही वर्ग कर सकता है : सर्वहारा वर्ग और उसकी अगुवाई में आम मेहनतकश जनता।**

3. समाजवाद और मज़दूर सत्ता क़ायम करने के लिए मज़दूर वर्ग को अपनी क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी की आवश्यकता होती है

यह अक्टूबर क्रान्ति की तीसरी सबसे महान शिक्षा है। आधुनिक विश्व इतिहास के दो प्रमुख राजनीतिक वर्ग हैं : पूँजीपति वर्ग और सर्वहारा वर्ग। ये दोनों वर्ग एक दूसरे के पूरक हैं। बिना श्रम के पूँजी का वजूद मुमकिन नहीं है क्योंकि पूँजीपति की पूँजी और कुछ नहीं होती बल्कि हम मज़दूरों का वह श्रम ही होती है, जो कि अब उत्पाद व मुद्रा का रूप ग्रहण कर चुका है। यानी पूँजी और कुछ नहीं मृत श्रम है जो कि एक पिशाच के समान मज़दूर वर्ग का जीवित श्रम अधिक से अधिक चूसकर ही जीवित रहती है। इसलिए श्रम के बिना पूँजी का अस्तित्व नहीं है और सर्वहारा वर्ग के बिना पूँजीपति वर्ग का अस्तित्व नहीं है। सर्वहारा वर्ग जब पूँजीपति वर्ग की सत्ता को उखाड़ फेंकता है, उसका सम्पत्ति-हरण करता है, निजी सम्पत्ति का ख़ात्मा करता है, और एक लम्बी ऐतिहासिक अवधि में अपने अधिनायकत्व के मातहत पूँजीवादी श्रम विभाजन और अन्तरवैयक्तिक असमानताओं के विभिन्न रूपों का ख़ात्मा करता है, और एक वर्गविहीन समाज यानी कम्युनिस्ट समाज की स्थापना की ओर आगे बढ़ता है, तो वह एक वर्ग के रूप में अपना अस्तित्व भी समाप्त करता जाता है।

सर्वहारा वर्ग के महान शिक्षक और समाज की गति के नियमों, यानी समाज के विज्ञान के नियमों की खोज करने वाले कार्ल मार्क्स ने बताया था कि वर्ग समाज की गति की जड़ में वास्तव में वर्गों का संघर्ष होता है। दास समाज में दास व दास-स्वामियों के बीच का वर्ग संघर्ष अन्तत: दास समाज के पतन और सामन्ती समाज के उदय की ओर ले गया। सामन्ती समाज में सामन्ती ज़मीन्दारों व उनके राजतंत्र तथा पूँजीपति वर्ग की अगुवाई में मज़दूरों, किसानों और मध्यवर्ग के बीच का वर्ग संघर्ष अन्तत: सामन्ती व्यवस्था के अन्त की ओर ले गया। पूँजीवादी समाज में पूँजीपति वर्ग और सर्वहारा वर्ग के बीच का वर्ग संघर्ष अन्तत: सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व और समाजवादी व्यवस्था की ओर ले जाता है। **लेकिन यह प्रक्रिया बहुत-सी जीतों और हारों के उतार-चढ़ाव से होकर गुज़रती है और ऐसा ही हो भी सकता है।**

जब कोई नया युवा पहलवान पहली दफ़ा किसी तजुरबेकार उम्रदराज़ पहलवान को पहली बार अपनी शक्ति से शिकस्त देता है, तो भी अगले मुक़ाबलों में कई बार अपने लम्बे तजुरबे के कारण उम्रदराज़ पहलवान युवा अनुभवहीन पहलवान को हरा देता है। लेकिन जैसे-जैसे अपनी हारों से सीखते हुए नया युवा पहलवान परिपक्व होता जाता है, वैसे-वैसे वह उम्रदराज़ तजुरबेकार पहलवान को शिकस्त देने का ज्ञान और अनुभव एकत्र करता जाता है और अन्तत: उसे निर्णायक तौर पर पराजित कर देता है। **हर नये क्रान्तिकारी वर्ग और पुराने सत्ताधारी वर्ग के बीच संघर्ष में भी ऐसा ही होता है।** ख़ुद पूँजीपति वर्ग के साथ भी ऐसा ही हुआ था जबकि कुछ शुरुआती जीतों के बाद सामन्त वर्ग ने उसे हरा दिया था। लेकिन चूँकि पूँजीपति वर्ग उस समय इतिहास का अधिक क्रान्तिकारी और उभरता हुआ प्रगतिशील वर्ग था, इसलिए अन्तत: उसने सामन्ती वर्ग को हराकर पूँजीवादी व्यवस्था को स्थापित करने में कामयाबी हासिल की। सर्वहारा वर्ग की कहानी भी इससे अलग नहीं है और न ही हो सकती है। उसका वर्ग संघर्ष भी कई उतार-चढ़ावों से गुज़रेगा, जिसके बाद ही सर्वहारा सत्ता और समाजवाद की निर्णायक विजय हो सकती है। जो इसके अलावा किसी और परिणाम की अपेक्षा करता है, उसे इतिहास की गति को समझने और एक ऐतिहासिक दृष्टि विकसित करने की ज़रूरत है।

लेकिन पूँजीपति वर्ग और सर्वहारा वर्ग के बीच जारी इस वर्ग संघर्ष में ये समूचे वर्ग किसी पार्क में इकट्ठा होकर कोरस गाने यानी समूह-गान के समान अपने संघर्ष को नहीं चलाते हैं और न ही चला सकते हैं। यानी, पूरे के पूरे वर्ग न तो वर्ग संघर्ष में सक्रिय व सचेतन राजनीतिक भागीदारी कर सकते हैं, न ही संघर्ष के समूचे राजनीतिक लक्ष्य, रणनीति और रणकौशल से परिचित होते हैं और न ही समूचे वर्ग बिना किसी राजनीतिक नेतृत्व और अपनी राजनीतिक पार्टी या पार्टियों के वर्ग संघर्ष का राजनीतिक संचालन कर सकते हैं। वर्ग संघर्ष में संघर्षरत वर्गों के *उन्नत राजनीतिक तत्वों* द्वारा इस्तेमाल की जाने वाली रणनीति, रणकौशल और नीतियों और उनके व्यवहार को ही **राजनीति** कहा जाता है और इन उन्नत राजनीतिक तत्वों द्वारा अपने आपको जिस रूप में संगठित किया जाता है, उसे ही हम **राजनीतिक पार्टी** कहते हैं। हर वर्ग संघर्ष एक राजनीतिक संघर्ष होता है। बिना राजनीतिक नेतृत्व और राजनीतिक पार्टी के आधुनिक विश्व के संघर्षरत वर्ग कभी भी वर्ग संघर्ष में व्यवस्थित तौर पर भागीदारी नहीं कर सकते हैं। जैसा कि लेनिन ने बताया था, यह मार्क्सवाद का ककहरा है। हर आधुनिक वर्ग के भीतर नेतृत्व देने वाले उन्नत हिस्से और बाक़ी हिस्से का अन्तर मौजूद रहता है। इसकी वजह यह है कि पूँजीपति वर्ग और सर्वहारा वर्ग अलग-अलग तरीक़े से कई आधारों पर बँटे होते हैं, हालाँकि इन दोनों वर्गों के भीतर मौजूद विभाजन अलग क़िस्म के और अलग कारणों से होते हैं।

हम जानते हैं कि समाज में कोई एक पूँजीपति नहीं होता, और न ही हो सकता है, जिसके पास समाज की समूची पूँजी का मालिकाना हो, क्योंकि पूँजीवादी व्यवस्था की बुनियाद में ही प्रतिस्पर्द्धा होती है। एक दौर में यह प्रतिस्पर्द्धा पूँजी के छोटे-छोटे बहुल केन्द्रों के बीच थी, जिसे "मुक्त प्रतिस्पर्द्धा" का दौर कहा जाता था, और एक दूसरे दौर में इसी "मुक्त प्रतिस्पर्द्धा" के दौर ने इजारेदारियों को जन्म दिया, जिससे कि पूँजी के छोटे बहुल केन्द्रों के बीच प्रतिस्पर्द्धा की जगह बड़े-बड़े पूँजीपतियों के बीच और भी हिंस्र और गलाकाटू तीव्र प्रतिस्पर्द्धा ने ले ली। कुछ "यथार्थवादी" मूर्ख ('यथार्थ' नामक पत्रिका के इर्द-गिर्द एकत्र बौड़म-ब्रिगेड) इसे प्रतिस्पर्द्धा का ख़ात्मा मानते हैं क्योंकि उनके अनुसार अब महँगाई और मुनाफ़े का स्रोत इजारेदार क़ीमतें और इजारेदार मुनाफ़ा हो गया है (!)। लेकिन सच्चाई यह है कि इजारेदारी का अर्थ प्रतिस्पर्द्धा का और भी ज़्यादा तीखा होना होता है। *बहरहाल, पूँजीपति वर्ग बाज़ार में प्रतिस्पर्द्धा के ज़रिए ही एक वर्ग के तौर पर संघटित होता है। इसी को मार्क्स ने पूँजीपति वर्ग का 'दुश्मनाना भाईचारा' कहा था।*

इसलिए उत्पादन के अलग-अलग क्षेत्रों के भीतर भी पूँजीपतियों के बीच गलाकाटू प्रतिस्पर्द्धा जारी रहती है, अलग-अलग उत्पादन के क्षेत्रों के पूँजीपतियों के बीच भी गलाकाटू प्रतिस्पर्द्धा जारी रहती है। इसलिए पूँजीपति वर्ग के अलग-अलग धड़े बनते हैं और उन धड़ों के बीच समाज

(पेज 13 पर जारी)

अक्टूबर क्रान्ति की स्मृति और विरासत का आज हम मज़दूरों-मेहनतकशों के लिए क्या अर्थ है?

(पेज 12 से आगे)

के मज़दूर वर्ग के अतिरिक्त श्रम को हड़पकर पैदा हुए कुल मुनाफ़े के बँटवारे को लेकर झगड़ा हमेशा चालू रहता है। इसी वजह से अलग-अलग धड़ों की अलग-अलग पूँजीवादी पार्टियाँ होती हैं। कुछ मुख्य तौर पर औद्योगिक-वित्तीय पूँजीपति वर्ग की पार्टियाँ होती हैं, कुछ मुख्य तौर पर बड़े व मँझोले व्यापारियों और धनी कुलकों-फ़ार्मरों की नुमाइन्दगी करती हैं, तो कुछ अलग-अलग क्षेत्रों के पूँजीपतियों की नुमाइन्दगी करती हैं। स्वयं इन पार्टियों के भीतर अलग-अलग दबाव समूह होते हैं और पूँजीपतियों के अलग-अलग धड़ों के हितों को आगे करने का प्रयास करते रहते हैं। लेकिन इतना स्पष्ट है कि *पूँजीपति वर्ग को अपनी पार्टियों की आवश्यकता होती है क्योंकि उनकी आपसी प्रतिस्पर्द्धा के कारण उनके सामूहिक वर्गीय हितों को राजनीतिक तौर पर सूत्रबद्ध करना और उन्हें एक राजनीतिक वर्ग के रूप में संगठित करना आवश्यक होता है, क्योंकि अपने तमाम आपसी झगड़ों के बावजूद समूचा पूँजीपति वर्ग मिलकर समूचे सर्वहारा वर्ग को लूटता है और सर्वहारा वर्ग के बरक्स उसे राजनीतिक तौर पर एकजुट होना आवश्यक होता है। इसी काम को पूँजीपति वर्ग की पार्टियाँ एक स्तर पर अंजाम देती हैं और इसी काम को सबसे ऊँचे स्तर पर पूँजीपति वर्ग की राज्यसत्ता अंजाम देती है।*

लुब्बेलुआब यह कि अपनी राजनीतिक पार्टियों के बिना पूँजीपति वर्ग एक राजनीतिक वर्ग के रूप में संगठित नहीं हो सकता है और इस वर्ग की प्रकृति ही ऐसी है कि इसे कई पार्टियों की आवश्यकता होती है। इसका पहला कारण तो यह है कि पूँजीपति वर्ग बनता ही आपसी प्रतिस्पर्द्धा और मुनाफ़े की दर के औसतीकरण से है और दूसरा कारण यह है कि चूँकि पूँजीपति वर्ग का शासन बहुसंख्यक मेहनतकश जनता पर शोषक अल्पसंख्या का शासन है, इसलिए उसे कई मुखौटों की ज़रूरत पड़ती है। 3, 5, 10 या 15 साल बाद एक मुखौटा इतना कलंकित और दाग़दार हो जाता है कि पूँजीपति वर्ग को अपना शासन बनाये रखने के लिए एक नये मुखौटे की ज़रूरत पड़ती है। इसीलिए पूँजीपति वर्ग की कई राजनीतिक पार्टियाँ होना आम तौर पर ज़रूरी होता है।

लेकिन क्या सर्वहारा वर्ग के भीतर आपसी विभाजन मौजूद नहीं होते हैं? होते हैं। मिसाल के तौर पर, शारीरिक श्रम व मानसिक श्रम करने वाले मज़दूरों के बीच का अन्तर, कुशल व अकुशल मज़दूरों के बीच का अन्तर, ग्रामीण व शहरी मज़दूरों के बीच का अन्तर, जाति, धर्म आदि के आधार पर पूँजीवादी सत्ता द्वारा लड़ाये जाने के कारण पैदा होने वाला अन्तर और इन सबके ऊपर यह कि पूँजीवादी व्यवस्था एक प्रकार की पूँजीवादी प्रतिस्पर्द्धा भी मज़दूरों पर थोप देती है, यानी नौकरी के अवसरों व मज़दूरी की प्रतिस्पर्द्धा। इन सबके कारण सर्वहारा वर्ग के भीतर भी आन्तरिक विभाजन मौजूद होते हैं। इसलिए सर्वहारा वर्ग को भी राजनीतिक तौर पर संगठित करने के लिए सर्वहारा वर्ग की क्रान्तिकारी पार्टी की आवश्यकता होती है। यह पार्टी सर्वहारा वर्ग के दर्शन (यानी दुनिया को बदलने का दर्शन) और विज्ञान (यानी समाज की गति का विज्ञान) की वाहक होती है और यह सर्वहारा वर्ग के उन्नततम तत्वों का दस्ता होती है। मज़दूर वर्ग के रोज़मर्रा के आर्थिक संघर्ष स्वत:स्फूर्त ढंग से सर्वहारा वर्ग की विचारधारा को जन्म नहीं दे सकते, बल्कि यह "बाहर से" यानी क्रान्तिकारी बुद्धिजीवियों द्वारा मज़दूर वर्ग के संघर्ष के ऐतिहासिक अनुभवों के समाहार के ज़रिए ही पैदा हो सकती है और इस कम्युनिस्ट विचारधारा को मज़दूर वर्ग के आन्दोलन से जोड़कर ही सर्वहारा वर्ग का राजनीतिक वर्ग संघर्ष सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व और समाजवाद की विजय तक पहुँच सकता है। जब मज़दूर वर्ग का एक उन्नत प्रतिनिधि भी इस काम को अंजाम देता है तो वह भी मज़दूर वर्ग के आम जनसमुदायों से अलग एक क्रान्तिकारी सर्वहारा बुद्धिजीवी की भूमिका निभाता है। साथ ही, यह काम सामाजिक तौर पर मध्यवर्ग में जन्मे लेकिन राजनीतिक तौर पर सर्वहारा वर्ग के बुद्धिजीवी भी कर सकते हैं, जैसे कि मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन और माओ ने किया। स्वयं पूँजीपति वर्ग के सारे चिन्तक और नीति-निर्माता व राजनीतिक नेता स्वयं कारख़ाना-मालिक वर्ग से नहीं आते हैं। उल्टे, वे अक्सर ही मध्यवर्ग से आते हैं। **इससे हमें यह सबक़ मिलता है कि जो भी आपके बीच किसी प्रकार के मज़दूरवाद की बात करते हुए कहता है कि सर्वहारा वर्ग के नेता के लिए मज़दूर वर्ग में पैदा होना अनिवार्य होना चाहिए, वह मज़दूर वर्ग का दुश्मन है और वह मज़दूर वर्ग से उसकी परिवर्तनकारी शक्ति या अभिकरण छीनने की बात कर रहा है।**

लेकिन सर्वहारा वर्ग को कई पार्टियों की आवश्यकता नहीं होती और उसकी एक ही क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी हो सकती है। वजह यह कि सर्वहारा वर्ग मुनाफ़े की दर के औसतीकरण यानी प्रतिस्पर्द्धा के कारण संघटित नहीं होता है, बल्कि समूचे पूँजीपति वर्ग द्वारा शोषण के द्वारा और अपने सम्पत्तिहीन होने के कारण संघटित होता है। यह दीगर बात है कि श्रम बाज़ार में उस पर पूँजीपति वर्ग द्वारा पूँजीवादी प्रतिस्पर्द्धा थोप दी जाती है। **लेकिन सर्वहारा वर्ग का संघटक तर्क प्रतिस्पर्द्धा नहीं है, बल्कि सामूहिकता है।** सही सर्वहारा विचारधारात्मक लाइन, राजनीतिक लाइन व कार्यक्रम से लैस कई क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टियाँ नहीं हो सकतीं। कई मज़दूर पार्टियाँ हो सकती हैं, जो सर्वहारा विचारधारा नहीं बल्कि पूँजीवादी विचारधारा से लैस हों। लेकिन सर्वहारा विचारधारात्मक लाइन, राजनीतिक लाइन और कार्यक्रम से लैस कई सर्वहारा/कम्युनिस्ट पार्टियाँ नहीं हो सकतीं। ऐसी एक ही पार्टी हो सकती है। इसीलिए सर्वहारा वर्ग का शासन भी बहुपार्टी संसदीय उदार बुर्जुआ जनवाद पर आधारित नहीं होता है, बल्कि सोवियत जनवाद होता है जिसमें सर्वहारा वर्ग की हिरावल पार्टी की भूमिका प्रधान उपकरण की होती है।

बहरहाल, सर्वहारा वर्ग को भी एक राजनीतिक वर्ग के रूप में संगठित होने के लिए उपरोक्त प्रकार की क्रान्तिकारी सर्वहारा पार्टी की आवश्यकता होती है जो कि कम्युनिस्ट विचारधारा, राजनीतिक लाइन और कार्यक्रम से लैस हो, अनुशासित हो और व्यवस्थित और योजनाबद्ध ढंग से काम करती हो। यह पार्टी स्वयं सर्वहारा वर्ग के उन्नततम तत्वों का दस्ता होती है। यह पार्टी सर्वहारा वर्ग की विचारधारा का मूर्त रूप होती है। यह पार्टी सर्वहारा वर्ग के क्रान्तिकारी ज्ञान और उसके वर्ग संघर्ष का मुख्यालय होती है। यह पार्टी मज़दूर वर्ग और व्यापक मेहनतकश जनता के बीच क्रान्तिकारी जनदिशा लागू करती है, जनता के बीच मौजूद बिखरे और अव्यवस्थित सही विचारों को एकत्र करती है, उनका अमूर्तन करती है, उनका सामान्यीकरण और समाहार करती है और इस आधार पर वर्ग संघर्ष की एक सही राजनीतिक लाइन को सूत्रबद्ध करती है और इसी के ज़रिए मज़दूर वर्ग और आम मेहनतकश जनता के जनसमुदायों को नेतृत्व देती है, पूँजीपति वर्ग की विचारधारा और राजनीतिक वर्चस्व को उनके बीच से समाप्त करती है और इसी के ज़रिए क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी समूची जनता के क्रान्तिकारी कोर या केन्द्रक की भूमिका निभाती है। व्यापक जनसमुदायों को पूँजीपति वर्ग की राजनीतिक लाइन और विचारधारा के असर से मुक्त किये बिना क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग समूची मेहनतकश जनता को अपने साथ नहीं ले सकता है और इसके बिना वह अकेले ही पूँजीवाद को उखाड़कर नहीं फेंक सकता है। *इस द्वन्द्व को समझना ज़रूरी है कि सर्वहारा वर्ग सबसे क्रान्तिकारी वर्ग है, लेकिन वह अकेले इतिहास नहीं बना सकता है और साथ ही जनता इतिहास बनाती है लेकिन वह सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व के बिना इतिहास नहीं बना सकती। यह काम सर्वहारा वर्ग की क्रान्तिकारी पार्टी के बिना सम्भव नहीं है। यानी सर्वहारा वर्ग की हिरावल पार्टी के बिना न तो सर्वहारा वर्ग एक राजनीतिक वर्ग के रूप में स्वयं को संघटित और संगठित कर सकता है और न ही सर्वहारा वर्ग समूची मेहनतकश जनता का नेतृत्व अपने हाथों में ले सकता है।*

यही काम बोल्शेविक पार्टी ने रूस में किया और इसी वजह से रूसी क्रान्ति सम्भव हो सकी। बोल्शेविक पार्टी ने रूसी सर्वहारा वर्ग के उन्नततम तत्वों को अपने भीतर समेटा, अराजकतावाद, अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद, मज़दूरवाद जैसी पूँजीवादी विचारधाराओं को सर्वहारा वर्ग के बीच से किनारे किया, व्यापक मेहनतकश जनता, यानी ग़रीब मेहनतकश किसानों व अर्द्धसर्वहारा का समर्थन जीता और रूस में पूँजीपति वर्ग को अलग-थलग कर उसकी सत्ता को उखाड़ फेंका। इसलिए रूसी क्रान्ति की एक सबसे बड़ी शिक्षा पार्टी की ज़रूरत को समझना है। **आज हमारे लिए भी भारत में प्रधान कार्यभार यह है कि सर्वहारा वर्ग की एक क्रान्तिकारी पार्टी का निर्माण किया जाये। आज कोई अखिल भारतीय क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी मौजूद नहीं है। एक सही विचारधारात्मक लाइन, एक सही राजनीतिक लाइन और क्रान्तिकारी जनदिशा, और एक सही कार्यक्रम के आधार पर एक अखिल भारतीय क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी के निर्माण के कामों को युद्धस्तर पर हाथ में लेना : यह आज हमारे लिए एक प्रमुख आम राजनीतिक कार्यभार है।** यदि यह काम करने में हम कामयाब होते हैं तो सर्वहारा क्रान्ति और समाजवाद के रास्ते पर आगे बढ़ने से भारत के मज़दूर वर्ग और आम मेहनतकश वर्गों को कोई नहीं रोक सकता है। यह अक्टूबर क्रान्ति से मिलने वाली अगली सर्वाधिक महत्वपूर्ण शिक्षा है जिसे आज हमें समझना होगा।

4. मज़दूर वर्ग को अपने भीतर मौजूद भितरघातियों और विजातीय राजनीतिक प्रवृत्तियों को बाहर करना होगा

यह अक्टूबर क्रान्ति की अगली सबसे अहम सीख है। मज़दूर वर्ग के आन्दोलन और आम मेहनतकश जनता के बीच कई भितरघाती मौजूद होते हैं। ये ऊपर से दिखावे के लिए तो लाल झण्डा उठाते हैं, लेकिन वास्तव में इन्होंने लाल झण्डा ज़मीन पर फेंक दिया और पूँजीपति वर्ग की सेवा करते हैं। रूस में भी मज़दूर वर्ग के आन्दोलन में ऐसी ताक़तें मौजूद थीं जिनमें मेंशेविक सामाजिक जनवादी, "क़ानूनी मार्क्सवादी", अराजकतावादी और अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी थे। इनकी ख़ासियतें क्या थीं?

इन भितरघातियों और विजातीय राजनीतिक प्रवृत्तियों की ख़ासियतें ये थीं : इनमें से कुछ का मानना था कि मज़दूरों के बीच राजनीतिक चेतना और क्रान्तिकारी विचारधारा आर्थिक लड़ाइयाँ लड़ते-लड़ते स्वयं पैदा हो जाते हैं, उसके लिए उनके बीच सचेतन तौर पर क्रान्तिकारी सर्वहारा विचारधारा और राजनीति के प्रचार-प्रसार और शिक्षण-प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं होती है। यानी, बस वेतन-भत्ते आदि की आर्थिक लड़ाइयाँ लड़ते रहो। इसी को अर्थवाद कहा जाता है। "क़ानूनी मार्क्सवादी", मेंशेविक सामाजिक जनवादी और साथ ही अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी इस प्रवृत्ति के प्रमुख वाहक थे। अर्थवाद मज़दूर वर्ग को अपने *आम राजनीतिक हितों* को प्राथमिकता और महत्व देने से रोकता है और अपने *तात्कालिक विशिष्ट आर्थिक हितों* (जिनके लिए राजनीतिक रूप से लड़ना अनिवार्य है) को ही सबकुछ मान लेने की शिक्षा देता है। इसके कारण सर्वहारा वर्ग कभी भी समूची मेहनतकश जनता का नेतृत्व अपने हाथ में नहीं ले सकता है और इस प्रकार समूची मेहनतकश जनता, जिसमें मज़दूर वर्ग के आम जनसमुदाय भी शामिल हैं, पूँजीपति वर्ग की विचारधारा और राजनीति के प्रभाव में बनी रहती है। नतीजतन, क्रान्ति की भ्रूणहत्या हो जाती है। लेनिन के नेतृत्व में बोल्शेविकों ने इस अर्थवाद को बेनक़ाब किया और दिखलाया कि यह सर्वहारा वर्ग के विरोध में खड़ी पूँजीवादी विचारधारा है।

इसी प्रकार, उपरोक्त में से कुछ अन्य का मानना है कि सर्वहारा वर्ग को हिरावल राजनीतिक पार्टी की आवश्यकता नहीं है या फिर सर्वहारा वर्ग स्वयं अपनी पार्टी का नेता होता है और उससे आगे चलता है (!), जिसका अर्थ फिर से यही हुआ कि सर्वहारा वर्ग को अपनी राजनीतिक हिरावल पार्टी की आवश्यकता नहीं है। ऐसे लोग सर्वहारा वर्ग की पार्टी को ही सर्वहारा वर्ग के विरुद्ध खड़ा कर देते हैं। ऐसे लोगों में अराजकतावादी व अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी प्रमुख थे। हमारे देश में आज इस प्रकार की सोच की नुमाइन्दगी *मज़दूर क्रान्ति परिषद्* व *क्रान्तिकारी नौजवान सभा*

(पेज 14 पर जारी)

अक्टूबर क्रान्ति की स्मृति और विरासत का आज हम मज़दूरों-मेहनतकशों के लिए क्या अर्थ है?

(पेज 13 से आगे)

(केएनएस) जैसे अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी और उनके एक साझा मंच *'मासा' (मज़दूर अधिकार संघर्ष अभियान)* के कुछ घटक संगठन करते हैं। यह मज़दूर आन्दोलन के भीतर एक बहुत ही ख़तरनाक प्रवृत्ति है, जिसको बेनक़ाब करना और उसके विरुद्ध संघर्ष करना आज सर्वहारा वर्ग के क्रान्तिकारियों का कर्तव्य है। लेनिन और उनके नेतृत्व में बोल्शेविकों ने ऐसे ही विजातीय तत्वों को मज़दूर आन्दोलन में बेनक़ाब किया और इतिहास ने यह दिखलाया कि रूस का सर्वहारा वर्ग इसी के चलते अपने आपको एक राजनीतिक वर्ग के रूप में संगठित करने में कामयाब हुआ।

इसी प्रकार, इन्हीं प्रवृत्तियों की नमुाइन्दगी करने वाले में कुछ ऐसे थे, जो कि एक लौह अनुशासन में बँधे और एक गोपनीय ढाँचा रखने वाले संगठन की आवश्यकता को नकारते थे। बोल्शेविक यह समझते थे कि सर्वहारा क्रान्तिकारियों को हर रूप में खुले काम और खुले संगठन खड़े करने चाहिए, लेकिन उनका यह भी मानना था कि इसके साथ पार्टी को अत्यधिक अनुशासित होना चाहिए और उसका एक गोपनीय ढाँचा भी होना चाहिए, वरना वह पार्टी पूँजीवादी राज्यसत्ता के रहमो-करम पर रहेगी और जैसे ही वह पूँजीवादी राज्यसत्ता के लिए ख़तरा बनेगी वैसे ही पूँजीवादी राज्यसत्ता उसका दमन करेगी और उसे कुचल डालेगी। लेकिन मेंशेविक खुली पार्टी और एक जनपार्टी की हिमायत कर रहे थे। लेनिन ने बताया कि जो ऐसी बात करता है, या तो वह स्वयं मूर्ख है और पूँजीवादी राज्यसत्ता को नहीं समझता या फिर उसे क्रान्ति करनी ही नहीं है और वह दूसरों को मूर्ख बना रहा है। इण्डोनेशिया में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों द्वारा लेनिन की इसी शिक्षा को नहीं समझा गया और वहाँ की पूँजीवादी तानाशाह सुहार्तो सत्ता ने दस लाख कम्युनिस्टों व मज़दूरों का क़त्लेआम कर समूचे सर्वहारा आन्दोलन को ही कुचल दिया। आज भी आपसे जो लेनिनवादी पार्टी उसूलों को तिलांजलि देने की बात करता है, वह आपको धोखा दे रहा है। ऐसी पार्टियों में सारी संशोधनवादी पार्टियाँ शामिल हैं जो कि मेंशेविकों और अर्थवादियों का ही अनुसरण करती हैं, जैसे कि *भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (भाकपा/सीपीआई), भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी)* यानी कि *माकपा/सीपीएम,* और *भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी-लेनिनवादी) लिबरेशन,* यानी *भाकपा-माले लिबरेशन/सीपीआई-एमएल लिबरेशन।* **ये सर्वहारा वर्ग के सबसे ख़तरनाक ग़द्दार हैं और इन्हें मज़दूर आन्दोलन से बाहर करना आज की सबसे बड़ी प्राथमिकताओं में से एक है।** ये वे पार्टियाँ हैं जो कि मार्क्सवाद के क्रान्तिकारी विज्ञान और दर्शन को छोड़ चुके हैं और मार्क्सवाद का नाम लेते हुए पूँजीवादी विचारधारा और राजनीति को अपना चुके हैं। केरल और कुछ समय पहले तक पश्चिम बंगाल और त्रिपुरा में इनकी सरकारों ने दमन-उत्पीड़न और पूँजीपति वर्ग की ज़्यादा सूझ-बूझ और दूरगामिता के साथ सेवा करने में तो खुली पूँजीवादी पार्टियों को भी पीछे छोड़ दिया है। संशोधनवादियों के अलावा तमाम अराजकतावादी व अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादियों मसलन *केएनएस* व *मज़दूर क्रान्ति परिषद्* जैसे संगठनों की ग़ैर-सर्वहारा विचारधारा और राजनीति को भी मज़दूरों के बीच बेनक़ाब करना आज बेहद ज़रूरी है।

इस प्रकार की विचारधाराओं व राजनीतियों का असर सर्वहारा वर्ग को भीतर से कमज़ोर करता है और उसे पूँजीवादी विचारधारा और राजनीति के समक्ष अरक्षित बना देता है। वह उसे एक राजनीतिक वर्ग के रूप में अपने आपको संगठित करने और अपने आपको व्यापक मेहनतकश जनता के नेतृत्व में स्थापित करने में अक्षम बनाता है।

इसके अलावा, एक अन्य प्रवृत्ति के विरुद्ध भी लेनिन व बोल्शेविक पार्टी ने शुरू से ही संघर्ष किया। *यह प्रवृत्ति नरोदवाद की प्रवृत्ति थी जिसका यह मानना था कि समूचा किसान वर्ग क्रान्तिकारी है और यह या तो क्रान्ति की अगुवाई करेगा या क्रान्ति में सर्वहारा वर्ग का मित्र होगा। हम मज़दूर और विशेष तौर पर ग्रामीण मज़दूर व ग़रीब जानते हैं, कि इससे बड़ा झूठ और मज़ाक़ और कुछ नहीं हो सकता।* जब तक हमारा साझा दुश्मन कोई सामन्ती जागीदार या ज़मीन्दार था, तब तक तो हम मज़दूरों और समूची किसान आबादी का एक साझा दुश्मन बनता था। उस समय ग्रामीण पूँजीपति वर्ग के हाथ में गाँव की चौधर यानी राजनीतिक शक्ति नहीं थी। आज ग्रामीण पूँजीपति वर्ग (यानी पूँजीवादी फ़ार्मर (यानी वह पूँजीवादी मालिक या काश्तकार किसान जो भाड़े पर मज़दूर रखकर काम करवाता है), पूँजीवादी भूस्वामी (यानी जो ज़मीन किराये पर पूँजीवादी काश्तकारों को देता है और लगान लेता है), और आढ़तियों, बिचौलियों, सूदख़ोरों, व्यापारियों का वर्ग जो कि असमान विनिमय व लगान द्वारा साधारण माल उत्पादन करने वाले निम्न मँझोले व ग़रीब किसानों को लूटता है) के हाथों में गाँव की राजनीतिक शक्ति है और देश के पैमाने पर वह औद्योगिक-वित्तीय पूँजीपति वर्ग के साथ सत्ता का साझीदार बन चुका है, भले ही उनके आपसी अन्तरविरोध कितने ही क्यों न हों। आज समूची किसान आबादी राजनीतिक तौर पर कोई एक वर्ग नहीं है। **धनी किसान और भूस्वामी आज शत्रु वर्ग का अंग हैं और गाँवों में आज सर्वहारा वर्ग के मित्र अर्द्धसर्वहारा, निम्न किसान व मध्य मध्यम किसान हैं।** यानी अर्द्धसर्वहारा आबादी और ग़रीब मेहनतकश किसान आबादी। लेकिन हमारे देश में आज भी कई ऐसे तथाकथित कम्युनिस्ट हैं, जो कि सर्वहारा वर्ग को धनी पूँजीवादी किसानों व ज़मीन्दारों की पूँछ पकड़कर चलने की सलाह दे रहे हैं। वे धनी किसानों की मज़दूर व ग़रीब किसान-विरोधी लाभकारी मूल्य (एमएसपी) की माँग का समर्थन करने की हिमायत कर रहे हैं, सिर्फ़ इसलिए क्योंकि गाँव का पूँजीपति वर्ग यह माँग फ़ासीवादी मोदी-शाह सरकार के सामने उठा रहा है। इस प्रकार के छोटी पूँजी व मँझोली पूँजी के तथाकथित "कम्युनिस्ट"-प्रेमियों से भी सर्वहारा वर्ग को दूर रहना चाहिए और अपने वर्गीय हितों और अपने वर्ग मित्रों की सही पहचान करनी चाहिए, वरना वह ग्रामीण पूँजीपति वर्ग और छोटे पूँजीपति वर्ग का पुछल्ला बन जायेगा। ऐसे तथाकथित "कम्युनिस्टों" में 'यथार्थ' पत्रिका के इर्द-गिर्द एकत्र मूर्ख-मण्डली और साथ ही नवजनवादी क्रान्ति का कार्यक्रम मानने वाले सभी नवनरोदवादी कम्युनिस्ट शामिल हैं। कई समझदार और सूझ-बूझ वाले कम्युनिस्ट भी फ़ासीवाद-विरोध के नाम पर या अपने पराजयबोध में कुलकों-धनी फ़ार्मरों की पूँछ पकड़ बैठे थे, जबकि साफ़ तौर पर देखा जा सकता है कि धनी फ़ार्मरों व कुलकों को अपने आपमे फ़ासीवाद से कोई दिक़्क़त नहीं है क्योंकि 2019 तक जब तक कि मोदी-शाह सरकार एमएसपी बढ़ा रही थी तो ये ही ग्रामीण पूँजीपति वर्ग उनके सिजदे कर रहा था। साथ ही, कुलक आन्दोलन के दौरान भी, धनी किसान-कुलक मोदी-शाह सरकार के पूँजीवादी राष्ट्रवाद के पिछलग्गू ही बने हुए थे। उनका अन्तरविरोध केवल ग्रामीण पूँजीपति वर्ग की आर्थिक माँग और मज़दूर वर्ग को लूटकर एकत्र किये जाने वाले अधिशेष के बँटवारे पर था। झगडा केवल मुनाफ़े के बँटवारे पर था। इसलिए सर्वहारा वर्ग को नरोदवादी व नवनरोदवादी कम्युनिस्टों को बेनक़ाब करना चाहिए और समझना चाहिए कि उसका एका पूँजीपति वर्ग के किसी हिस्से के साथ नहीं बनता चाहे वह ग्रामीण पूँजीपति वर्ग या छोटा व मँझोला पूँजीपति वर्ग ही क्यों न हो।

5. सर्वहारा वर्ग को दमन और शोषण के हर क्षेत्रीय, राष्ट्रीय व अन्तरराष्ट्रीय मसले पर अपनी भूमिका चुननी चाहिए

अक्टूबर क्रान्ति की एक अन्य महान शिक्षा यह है कि रूस का सर्वहारा वर्ग समाजवादी क्रान्ति को अंजाम देने में कामयाब इसलिए हुआ क्योंकि सही मायने में एक राजनीतिक वर्ग के रूप में उसने हर रूप में और हर जगह पर शोषण और दमन का विरोध किया, शोषित और दमित सामाजिक समुदायों के साथ एकता स्थापित की, और उसने यह समझा कि यदि सर्वहारा वर्ग किसी भी रूप में दमन या उत्पीड़न पर शान्त रहता है या उसकी हिमायत करता है तो वह स्वयं भी हमेशा शोषित और उत्पीड़ित रहने के लिए अभिशप्त होगा।

रूस में बोल्शेविक पार्टी के नेतृत्व में सर्वहारा वर्ग ने रूसी अन्धराष्ट्रवाद का खण्डन किया और रूसी साम्राज्य में शामिल सभी दमित राष्ट्रों व राष्ट्रीयताओं के दमन व उत्पीड़न का पुरज़ोर विरोध किया। रूस के सर्वहारा वर्ग ने जॉर्जिया, आर्मेनिया, अज़रबैजान, यूक्रेन, उजबेकिस्तान, ताजिकिस्तान, तुर्कमेनिस्तान, लात्विया, लिथुआनिया, पोलैण्ड आदि में रूस के शासक पूँजीपति वर्ग द्वारा राष्ट्रीय दमन का विरोध किया, अपने देश के रूसी शासक वर्ग के राष्ट्रवाद से अपना रिश्ता तोड़कर न्याय और बराबरी का साथ दिया। नतीजतन, रूस में क्रान्ति के बाद रूस के शासक मज़दूर वर्ग ने हर राष्ट्र को यह अधिकार दिया कि वह ख़ुद अपना फ़ैसला ले और अलग होना चाहे तो अलग हो जाये। रूस के सर्वहारा वर्ग ने साफ़ किया कि अपनी इच्छा से वह अधिक से अधिक बड़े साझा देश और राज्य के पक्ष में है, लेकिन यह साझा देश और साझा राज्य ज़ोर-ज़बर्दस्ती के आधार पर नहीं, बल्कि स्वेच्छा से बनाया जा सकता है। इसी के ज़रिए रूस के क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग ने सभी दमित राष्ट्रों का भरोसा जीता और क्रान्ति के 5-6 वर्ष बाद ही सोवियत संघ अस्तित्व में आया जिसमें अधिकांश दमित राष्ट्र जो कि अब मुक्त हो चुके थे, स्वेच्छा से शामिल हुए और समाजवादी व्यवस्था को स्वीकारा।

इसी प्रकार रूसी पूँजीपति वर्ग ने अल्पसंख्यक यहूदियों के ख़िलाफ़ भी कट्टरपन्थ को फैलाकर उनका दमन और उत्पीड़न किया था और मज़दूर वर्ग के भीतर भी यहूदी-विरोधी कट्टरपन्थी सोच (एण्टी-सेमिटिज़्म) का प्रभाव फैलाया था। नतीजतन, कई मज़दूर भी यहूदी-विरोध की भावना से प्रभावित थे। रूसी सर्वहारा वर्ग ने अपनी हिरावल पार्टी यानी बोल्शेविक पार्टी के नेतृत्व में इस विचारधारा का सतत् विरोध किया, उसे बेनक़ाब किया और व्यापक मज़दूर जनसमुदायों को यह समझाया कि यह विचारधारा वास्तव में मज़दूर वर्ग की एकता को तोड़ने और उसकी शक्ति को बंजर कर देने के लिए फैलायी जा रही है। धर्म मज़दूर वर्ग के लिए पूरी तरह से एक व्यक्तिगत मसला है और मज़दूर वर्ग का यह मानना है कि कोई अपने घर में कौन-सा धर्म मानता है या कोई धर्म नहीं मानता, इसका सरकार, राज्यसत्ता और सामाजिक जीवन से कोई लेना-देना नहीं होना चाहिए। समाजवाद सभी को कोई भी धर्म मानने या न मानने की स्वतंत्रता देता है लेकिन किसी भी व्यक्ति या समूह को यह आज़ादी नहीं है कि वह धार्मिक प्रचार करे, धर्म को राजनीति या सामाजिक जीवन से जोड़े। यही सच्चे मायने में सेक्युलरिज़्म है और इतिहास ने दिखलाया है कि सर्वहारा वर्ग ही क्रान्तिकारी मायने में सेक्युलर हो सकता है। साथ ही, रूस की कम्युनिस्ट पार्टी ने हर प्रकार के भाषाई दमन का विरोध करते हुए स्पष्ट किया कि समाजवादी सोवियत संघ में कोई भी भाषा केन्द्र या राज्य (प्रान्त) के स्तर पर राष्ट्रीय, राजकीय या आधिकारिक भाषा नहीं होगी और सभी भाषाओं को बराबरी का दर्जा प्राप्त होगा। एकसमान स्कूल व्यवस्था होगी और उसमें हर क़ौम से आने वाले छात्र को अपनी भाषा में अध्यापन व पुस्तकों की पूरी सुविधा मिलेगी। सोवियत संघ ने इसे करके दिखलाया। इसकी वजह से राष्ट्रीय व भाषाई अन्तरविरोध भी कम होते गये और सोवियत संघ की जनता ने स्वेच्छा से सोवियत संघ की निश्चित विशिष्ट परिस्थितियों में रूसी भाषा को आपसी सम्पर्क भाषा के तौर पर चुना।

आज भारत के मज़दूर वर्ग के लिए सोवियत संघ के ये उदाहरण मिसाल हैं।

हमारे देश में भी संघ परिवार और मोदी-शाह की फ़ासीवादी सत्ता द्वारा आज मज़दूर वर्ग और आम मेहनतकश जनता को ख़ास तौर पर हिन्दू-मुसलमान और मन्दिर-मस्जिद के नाम पर बाँटा जा रहा है। साथ ही, सभी पार्टियाँ जाति और भाषा के आधार पर भी मज़दूर वर्ग और व्यापक मेहनतकश आबादी को बाँटने में लगी हुई हैं। चूँकि हम अपने जीवन की आर्थिक असुरक्षा और अनिश्चितता से तंगहाल हैं और थके हुए हैं, इसलिए हमें भी आनन-फ़ानन में एक दुश्मन की तलाश होती है। कोई देशव्यापी क्रान्तिकारी पार्टी आज मौजूद नहीं है जो पूरे देश के पैमाने पर सघन और व्यापक प्रचार

(पेज 15 पर जारी)

अक्टूबर क्रान्ति की स्मृति और विरासत का आज हम मज़दूरों-मेहनतकशों के लिए क्या अर्थ है?

(पेज 14 से आगे)

के ज़रिए यह दिखला सके कि हमारे जीवन की आर्थिक व सामाजिक असुरक्षा व अनिश्चितता के लिए किसी विशेष धर्म, समुदाय या जाति के लोग ज़िम्मेदार नहीं हैं, बल्कि हर धर्म, जाति या समुदाय की मेहनतकश जनता के जीवन की आर्थिक व सामाजिक असुरक्षा व अनिश्चितता के लिए मौजूदा पूँजीवादी व्यवस्था ज़िम्मेदार है जो अपनी स्वाभाविक गति से बेरोज़गारी, महँगाई, ग़रीबी, भुखमरी, कुपोषण व पर्यावरणीय विनाश पैदा कर रही है। इसीलिए तो इस व्यवस्था के शीर्ष पर बैठे नीति-निर्माता यानी कि पूँजीपति वर्ग के राजनीतिक प्रतिनिधि अपनी इस व्यवस्था के काले अपराध छिपाने के लिए हमें धर्म व जाति के नाम पर बाँट रहे हैं और हिन्दू को बता रहे हैं कि मुसलमान दुश्मन है, मुसलमान को बता रहे हैं कि हिन्दू दुश्मन है; सवर्ण को बता रहे हैं कि दलित दुश्मन हैं और दलित को बता रहे हैं कि सवर्ण दुश्मन हैं। **जबकि सच यह है कि सभी धर्मों और जातियों के मेहनतकशों, मज़दूरों और ग़रीबों का साझा दुश्मन इस देश का पूँजीपति वर्ग और उसकी पूँजीवादी व्यवस्था है, चाहे इसके शीर्ष पर बैठे लोगों का धर्म कुछ भी हो।** यह है सच्चाई जिसे हम जितनी जल्दी समझ लें उतना बेहतर है। और रूस के क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग, समाजवादी क्रान्ति और समाजवादी व्यवस्था से सीखने वाली बातों में हम भारतीय मेहनतकशों व मज़दूरों के लिए यह बात विशेष महत्व रखती है।

साथ ही, हमारे देश में कश्मीर और उत्तर-पूर्व के तमाम राष्ट्रों का राष्ट्रीय दमन मौजूद है। सर्वहारा वर्ग को इस राष्ट्रीय दमन का भी पुरज़ोर विरोध करना चाहिए और हर राष्ट्र को आत्मनिर्णय के अधिकार दिये जाने के लिए संघर्ष करना चाहिए। हम राष्ट्रों के अलग होने का समर्थन नहीं करते हैं, बल्कि उनके अलग होने के अधिकार का समर्थन करते हैं। सर्वहारा वर्ग तो सभी राष्ट्रों की सीमाओं को मिटा देना चाहता है, भला वह क्यों राष्ट्रों को अलग करना चाहेगा? लेकिन सर्वहारा वर्ग राष्ट्रों के राजनीतिक दमन और ज़ोर-ज़बर्दस्ती का पुरज़ोर विरोध करता है और यह मानता है कि अधिकतम सम्भव बड़े राज्य का निर्माण स्वैच्छिक आधार पर होना चाहिए, राष्ट्रीय दमन और ज़ोर-ज़बर्दस्ती के आधार पर नहीं। इसलिए हमें अपने देश के शासक वर्ग के राष्ट्रवाद और राष्ट्रीय कट्टरपन्थ में नहीं फँसना चाहिए और सभी दमित राष्ट्रों की मुक्ति की लड़ाई का समर्थन करना चाहिए। केवल यही राजनीतिक लाइन कालान्तर में न्याय और समानता पर आधारित अधिकतम सम्भव बड़े सर्वहारा राज्य के निर्माण की ओर जा सकती है। साथ ही, दमित राष्ट्रों के सर्वहारा वर्ग का यह कर्तव्य है कि वह दमनकारी देश के सर्वहारा वर्ग को नहीं बल्कि पूँजीपति वर्ग को अपना दुश्मन माने और राष्ट्रीय दमन को ख़त्म कर स्वैच्छिक समेकन और एकीकरण की लाइन पर बल दे, क्योंकि दमित राष्ट्रों का पूँजीपति वर्ग भी अपने देश की कुदरत और मेहनत की लूट के अधिकार और अपने घरेलू बाज़ार पर क़ब्ज़े की ख़ातिर ही राष्ट्रीय मुक्ति की लड़ाई लड़ता है। राजनीतिक तौर पर उससे मोर्चा बनाने के विकल्प को खुला रखते हुए भी दमित राष्ट्रों का सर्वहारा वर्ग ऐसे किसी भी राष्ट्रीय मोर्चे में अपनी राजनीतिक स्वतंत्रता को क़ायम रखता है और अपनी राजनीतिक लाइन के वर्चस्व को स्थापित करने का प्रयास करता है न कि बुर्जुआ वर्ग का पुछल्ला बनता है।

आज भारत के कम्युनिस्ट आन्दोलन में भी ऐसे राष्ट्रवाद के मर्ज़ के कुछ शिकार मौजूद हैं, मसलन *'ललकार-प्रतिबद्ध'* ग्रुप और उसके बचकाने नुमाइन्दे और उसका नेतृत्व जो कि भारत के सभी राष्ट्रों को दमित मानते हैं (एक "अराष्ट्रीय", मंगल ग्रह से आये पूँजीपति वर्ग द्वारा दमित!!) लेकिन उनके लिए अलग होने के अधिकार समेत राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के अधिकार की क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट लाइन की बजाय पूँजीपति वर्ग से संघीय अधिकारों और प्रान्तीय स्वायत्तता की माँग करते हैं और भारत में समाजवादी क्रान्ति को इन संघीय अधिकारों व स्वायत्तता को हासिल करने का रास्ता मानते हैं! **अव्वलन तो भारत में आज कश्मीर और उत्तर-पूर्व के तमाम राष्ट्रों के अलावा कोई दमित राष्ट्र नहीं हैं और अगर कोई किसी राष्ट्र को दमित मानता है तो उसके लिए कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी कार्यक्रम राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति के ज़रिए राष्ट्रीय मुक्ति का होगा, न कि दमनकारी देश में समाजवादी क्रान्ति के ज़रिए अपने राष्ट्र की राष्ट्रीय मुक्ति करना और तब तक दमनकारी देश के शासक वर्ग से संघीय अधिकारों और स्वायत्तता की भीख माँगना! यह अलग बात है कि हर दमित राष्ट्र के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी अपने देश में राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति की शक्तियों और दमनकारी देश में समाजवादी क्रान्ति की कम्युनिस्ट शक्तियों के साथ एकता स्थापित करेंगे, लेकिन इससे दमित राष्ट्र में क्रान्ति की मंज़िल को ही गटक जाने का काम राष्ट्रीय प्रश्न पर अपनी क़ौम की बुर्जुआज़ी का स्टैण्ड अपनाने और सुधारवादी लाइन अपनाने वाले नक़ली कम्युनिस्ट ही कर सकते हैं और पंजाब के 'ललकार-प्रतिबद्ध' ग्रुप को इसी श्रेणी में रखा जा सकता है।**

सर्वहारा वर्ग को इस प्रकार की विजातीय पूँजीवादी लाइन को बेनक़ाब करना चाहिए और उसे समूचे मज़दूर वर्ग और मेहनतकश जनसमुदायों के समक्ष बेपर्द करना चाहिए।

6. कोई भी नया वर्ग और नयी व्यवस्था जीतों-हारों के उतार-चढ़ाव भरे लम्बे सिलसिले के बाद ही टिकाऊ तौर पर स्थापित होती है

हम जानते हैं कि 1953 में स्तालिन की मृत्यु के बाद ख्रुश्चेव नामक सर्वहारा वर्ग के ग़द्दार के नेतृत्व में सोवियत संघ में पूँजीवादी व्यवस्था की पुनर्स्थापना हो गयी। यह कोई बिल्कुल अनपेक्षित बात नहीं थी। इसे समझने के दो पहलू हैं। पहली बात तो यह कि सोवियत संघ और फिर चीन में समाजवादी क्रान्ति और समाजवादी व्यवस्था के प्रयोग सर्वहारा वर्ग के द्वारा समाजवादी व्यवस्था के पहले चक्र के प्रयोग थे। इस पहले चक्र में अभी सर्वहारा वर्ग और उसके क्रान्तिकारी नेताओं को बहुत-सी चीज़ें नहीं पता थीं और तमाम ग़लतियों और कमियों के तजुरबों के साथ ही वे उनके बारे में सीखने की प्रक्रिया में थे। इस वजह से सर्वहारा वर्ग और उसके राजनीतिक नेतृत्व द्वारा तमाम गम्भीर भूलें होना स्वाभाविक था। क्रान्ति एक वर्ग संघर्ष की प्रक्रिया होती है और दो वर्गों के बीच जीवन-मरण का संघर्ष होता है। इस संघर्ष का एकरेखीय, सीधा और सरल होना नामुमकिन है।

इसका दूसरा पहलू यह है कि इतिहास में कोई भी नया वर्ग और कोई भी नयी व्यवस्था शासक वर्ग और प्रभावी व्यवस्था के तौर पर टिकाऊ रूप में पहले चक्र की क्रान्तियों के ज़रिए ही नहीं स्थापित हुए। पूँजीपति वर्ग की राजनीतिक और विचारधारात्मक लड़ाई सामन्तवाद के ख़िलाफ़ 15वीं-16वीं शताब्दी से ही शुरू हो गयी थी। 17वीं शताब्दी में इंग्लैण्ड में पहली पूँजीवादी क्रान्ति हुई। 1789 में फ़्रांस में सबसे महान और ऐतिहासिक पूँजीवादी क्रान्ति हुई। लेकिन पूँजीवादी व्यवस्था प्रभावी व्यवस्था के तौर पर और पूँजीपति वर्ग शासक वर्ग के तौर पर टिकाऊ रूप में 1850 के दशक से ही उन्नत यूरोपीय देशों में स्थापित हुए और दुनियाभर में पूँजीवाद के प्रभावी व्यवस्था के तौर पर स्थापित होने का सिलसिला तो बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध तक चलता रहा। *यानी पूँजीवाद की सामन्तवाद पर स्थायी जीत के पहले क़रीब 400 साल की अवधि बीती! अभी तो कम्युनिस्ट घोषणापत्र के प्रकाशित हुए ही केवल 172 साल हुए हैं और उसमें ही सर्वहारा वर्ग ने तमाम कामयाब क्रान्तियाँ कर समाजवादी प्रयोगों को कई दशकों तक चलाया और दिखला दिया कि पूँजीवाद से बेहतर, न्यायपूर्ण, समानतामूलक और वैज्ञानिक व्यवस्था सम्भव है।* रूस, चीन, वियतनाम, कोरिया, पूर्वी यूरोप के कई देशों आदि में समाजवाद के प्रथम चक्र के प्रयोगों ने ही सर्वहारा वर्ग और समाजवाद की श्रेष्ठता को स्थापित और सिद्ध कर दिया। **लेकिन सर्वहारा क्रान्ति की विश्व प्रक्रिया भी निश्चय ही हारों-जीतों से, उतारों-चढ़ावों से गुज़रनी ही थी और इसमें कुछ भी ताज्जुब की बात नहीं है। पहले चक्र की क्रान्तियों के बाद पराजय और विपर्यय का एक लम्बा दौर आना ही था, और इसमें भी कोई आश्चर्य की बात नहीं है। जिसके पास भी ऐतिहासिक दृष्टि है, वह 'समाजवाद के अन्त', 'मार्क्सवाद के अन्त' के अवैज्ञानिक दावों को आसानी से चिन्दी-चिन्दी कर सकता है।** साथ ही, यह भी नहीं भूलना चाहिए कि पूँजीवादी क्रान्ति में एक शोषक वर्ग (पूँजीपति वर्ग) दूसरे शोषक वर्ग (सामन्त वर्ग) की जगह ले रहा था और उसकी लड़ाई एक प्रकार की शोषक व्यवस्था से ही थी। लेकिन सर्वहारा वर्ग की समाजवाद और कम्युनिज़्म के लिए लड़ाई समूचे वर्ग समाज के चार हज़ार वर्ष के ख़िलाफ़ है क्योंकि वह इतिहास का अन्तिम क्रान्तिकारी वर्ग है जिसका ऐतिहासिक लक्ष्य ही एक वर्ग के रूप में ख़ुद को समाप्त करते हुए समूचे वर्ग समाज का ही ख़ात्मा है। इसलिए सर्वहारा वर्ग की समाजवाद के लिए लड़ाई वैसे भी पूँजीवाद की सामन्तवाद के विरुद्ध लड़ाई से कहीं ज़्यादा आमूलगामी, कहीं ज़्यादा ढाँचागत और ज़्यादा जटिल है। ऐसे में, यह उम्मीद करना कि समाजवाद के पहले प्रयोग ही स्थायी रूप में टिक क्यों नहीं गये और उनके न टिकने पर समाजवाद के लक्ष्य और मार्क्सवाद की सर्वहारा विचारधारा के प्रति ही संशयग्रस्त हो जाना उन मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों की पहचान है जिनके पास ऐतिहासिक दृष्टि और वैज्ञानिक पद्धति का अभाव है।

आगे बढ़ते हैं और समाजवादी संक्रमण की जटिल समस्याओं पर बेहद संक्षेप में एक चर्चा करते हैं।

समाजवादी क्रान्ति के बाद पूँजीपति वर्ग हारता है, वह कोई कपूर की तरह उड़ नहीं जाता है। वह समाज में मौजूद रहता है और लगातार अपने खोये हुए स्वर्ग को फिर से हासिल करने के प्रयासों में लगा रहता है, तोड़-फोड़ करता है, सर्वहारा वर्ग के आम जनसमुदायों को अपनी बुर्जुआ विचारधाराओं, जैसे निजी सम्पत्ति व पैसे के लालच, बचत करने की प्रवृत्ति, स्वार्थीपन और आत्मकेन्द्रण की प्रवृत्ति से प्रभावित करने की कोशिश करता है। सर्वहारा वर्ग के व्यापक जनसमुदाय भी अभी-अभी पूँजीवादी समाज से निकले होते हैं और स्वयं उनमें भी पूँजीवादी विचारधारा का असर मौजूद होता है।

समाजवादी समाज में तत्काल ही मानसिक श्रम और शारीरिक श्रम का अन्तर समाप्त नहीं हो जाता है, न ही कृषि और उद्योग तथा गाँव व शहर के बीच की असमानता समाप्त हो जाती है। इन रूपों में श्रम विभाजन के मौजूद रहने के कारण पूँजीवादी विशेषाधिकार भी बने रहते हैं। मसलन, शुरुआती तौर पर समाजवादी निर्माण में भी विशेषज्ञों, बौद्धिक कर्मियों, आदि की आवश्यकता होती है जो कि अधिक वेतन व सुविधाएँ न मिलने की सूरत में समाजवादी व्यवस्था से असहयोग कर सकते हैं। ऐसे में, डॉक्टरों, इंजीनियरों, टेक्नीशियनों आदि को अधिक वेतन और बेहतर आवास आदि देना शुरुआती दौर में समाजवादी सर्वहारा सत्ता की मजबूरी होती है। इससे बुर्जुआ विशेषाधिकारों और उसकी सोच के बढ़ने की सम्भावना लगातार मौजूद रहती है। समाजवादी व्यवस्था में कई पीढ़ियों के समाजवादी शिक्षा आन्दोलनों व सांस्कृतिक क्रान्तियों तथा उत्पादक शक्तियों के विकास के बाद ही ये अन्तर धीरे-धीरे ख़त्म हो सकते हैं, और तब तक सर्वहारा वर्ग की सत्ता को बेहद मज़बूत और सटीक सर्वहारा चौकसी के साथ समाजवादी निर्माण को आगे बढ़ाना होता है।

समाजवादी संक्रमण के दौरान, सर्वहारा राज्य और पार्टी द्वारा किसी भी क़ीमत पर जल्दी आर्थिक विकास करने को लक्ष्य नहीं बनाया जा सकता है, बल्कि उत्पादन सम्बन्धों के क्रान्तिकारी रूपान्तरण को जारी रखते हुए ही उत्पादक शक्तियों के विकास को आगे बढ़ाया जाना चाहिए। यानी राजनीति और वर्ग संघर्ष को कमान में रखते हुए ही उत्पादक शक्तियों का विकास किया जाना चाहिए। इसके अलावा, जब तक समूची सम्पत्ति का उन्नततम समाजीकरण यानी राष्ट्रीकरण व राजकीयकरण नहीं हो जाता, यानी समूचे उद्योग का राष्ट्रीकरण होना और उसका पार्टी नेतृत्व में मज़दूर नियंत्रण में आना, तब तक समूची खेती में राजकीय फ़ार्मों की स्थापना के बिना माल उत्पादन भी जारी रहता है। सामूहिक

(पेज 16 पर जारी)

अक्टूबर क्रान्ति की स्मृति और विरासत का आज हम मज़दूरों-मेहनतकशों के लिए क्या अर्थ है?

(पेज 15 से आगे)

फ़ार्म अन्य सामूहिक फ़ार्मों व सहकारी संस्थाओं तथा सर्वहारा राज्यसत्ता से उत्पादों का विनिमय करते हैं और उत्पादक के साधनों का और श्रमशक्ति का तो माल के रूप में अस्तित्व समाप्त हो जाता है, लेकिन तमाम व्यक्तिगत उपभोग की वस्तुएँ भी माल (यानी बेचने-ख़रीदने की वस्तुओं) के रूप में मौजूद रहती हैं और यह माल उत्पादन हर घण्टे पूँजीवादी मूल्यों, सम्बन्धों और विचारधाराओं को जन्म देता रहता है। इसलिए जब तक सर्वतोमुखी सर्वहारा अधिनायकत्व के मातहत सांस्कृतिक क्रान्तियों के सिलसिले के ज़रिए माल उत्पादन का, विनिमय सम्बन्धों का और पूँजीवादी श्रम विभाजन का ख़ात्मा नहीं होता, तब तक पूँजीवादी मूल्य व सम्बन्ध उत्पादित व पुनरुत्पादित होते रहते हैं। और इसलिए पुराने पूँजीपति वर्ग के साथ पार्टी और राज्य के भीतर भी एक ऐसा पूँजीपति वर्ग पैदा होता है, जो कि राजनीति और विचारधारा से पूँजीवादी पथगामी होता है और अगर उसके विरुद्ध सतत् संघर्ष की प्रक्रिया नहीं चलायी जाती तो वह पार्टी में एक पूँजीवादी मुख्यालय क़ायम कर कालान्तर में सर्वहारा पार्टी और राज्य का भीतर से चरित्र-परिवर्तन कर डालता है। **सोवियत संघ में तमाम उपलब्धियों के बावजूद उत्पादकतावाद की सोच के कारण यह ग़लती हुई, जिसके बारे में हम कभी 'मज़दूर बिगुल' में विस्तार से लिखेंगे।**

इसके अलावा, पूँजीवादी विचारधारा का असर भी अभी न सिर्फ़ बरक़रार होता है, बल्कि उसकी वर्चस्वकारी स्थिति भी अभी नहीं समाप्त हुई होती है। इसलिए सामाजिक जीवन के हर क्षेत्र में बुर्जुआ विचारधारा के विरुद्ध सतत् सचेतन संघर्ष अनिवार्य होता है। अधिकांश यांत्रिक मार्क्सवादी मार्क्स की इस बुनियादी शिक्षा को भूल जाते हैं कि जब विचारधारा किसी जनसमूह को अपनी गिरफ़्त में ले लेती है तो वह भी एक भौतिक शक्ति बन जाती है जो एक व्यवस्था को गिरा भी सकती है।

इस प्रकार एक ओर पूँजीवादी मूल्यों व सम्बन्धों का जारी माल उत्पादन के कारण सतत् उत्पादन और पुनरुत्पादन और वहीं दूसरी ओर विचारधारात्मक स्तर पर पूँजीवादी विचारधारा का जारी वर्चस्व तथा समाज में पूँजीवादी तत्वों का लगातार पैदा होना समाजवादी समाज में नये रूपों में सर्वहारा वर्ग (जो कि अब शासक वर्ग बन चुका है) और पूँजीपति वर्ग के बीच वर्ग संघर्ष को जारी रखता है और इसमें जीत-हार का फ़ैसला होना अभी बाक़ी होता है। *यदि सर्वहारा वर्ग आर्थिक ही नहीं बल्कि राजनीतिक, सामाजिक और विचारधारात्मक क्षेत्र में सर्वतोमुखी अधिनायकत्व को लागू करते हुए नये राजकीय और पुराने बुर्जुआ वर्ग के प्रतिरोध को कुचलता है, माल उत्पादन को क़दम-दर-क़दम समाप्त करता है, उत्पादन सम्बन्धों के क्रान्तिकारी रूपान्तरण व वर्ग संघर्ष को कमान में रखते हुए उत्पादक शक्तियों का विकास जारी रखता है और विचारधारात्मक अधिरचना के क्षेत्र में सतत् क्रान्ति के सिद्धान्त को लागू करता है, तो ही समाजवादी संक्रमण को कामयाबी के साथ आगे बढ़ाया जा सकता है, पूँजीपति वर्ग की निर्णायक ऐतिहासिक पराजय को सुनिश्चित किया जा सकता है और कम्युनिस्ट समाज की ओर आगे बढ़ा जा सकता है।* यही माओ त्से-तुङ की महान शिक्षा थी, जिसे माओ ने सोवितय संघ में समाजवादी प्रयोग और चीन में समाजवादी प्रयोग के नकारात्मक व सकारात्मक अनुभवों से निकाला था। इसे ही महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति का सिद्धान्त कहते हैं।

इस नये सिद्धान्त और इन नये उसूलों का जन्म सोवियत संघ और चीन में विश्व-ऐतिहासिक समाजवादी प्रयोगों का परिणाम था। अन्तत: इन प्रयोगों के पतन के बावजूद सर्वहारा वर्ग ने अपने भावी प्रयोगों को अमल में लाने और उन्हें स्थायी तौर पर कामयाब बनाने का रास्ता सीखा है और इन शिक्षाओं पर अमल करके ही भविष्य के समाजवादी प्रयोगों को टिकाना और कम्युनिस्ट समाज की ओर आगे बढ़ना सम्भव है। सोवियत संघ और फिर चीन में समाजवादी प्रयोगों का गिरना एक रूप में इन युगान्तरकारी शिक्षाओं को हासिल करने की क़ीमत थी। **इन प्रयोगों का अन्तत: गिरना मार्क्सवाद और कम्युनिज़्म की असफलता को नहीं दिखाता। उल्टे इनसे निकले उसूल, सिद्धान्त और शिक्षाएँ यह दिखलाते हैं कि अपने आप में इन प्रयोगों का पतन और कुछ नहीं दिखलाता सिवाय इसके कि इतिहास की गति ऐसी ही होती है, हर नया वर्ग और नयी व्यवस्था जीतों-हारों के एक ऐतिहासिक सिलसिले के बाद ही अपने आपको स्थापित कर सकते हैं और कोई भी नया वर्ग और नयी व्यवस्था इसका अपवाद नहीं हैं।** इन शिक्षाओं के जन्म की प्रक्रिया में सोवियत संघ के समाजवादी प्रयोग के दौरान उत्पादकतावाद की ग़लती होने, वर्ग संघर्ष की कुंजीभूत कड़ी से पकड़ कमज़ोर पड़ने और सर्वहारा अधिनायकत्व और उसकी चौकसी के कमज़ोर पड़ने और नतीजतन, सोवियत संघ की सर्वहारा राज्यसत्ता व पार्टी के भीतर बुर्जुआ तत्वों के जड़ जमाने और फिर उस पर क़ब्ज़ा कर लेने की सम्भावनाएँ थीं और यही हुआ भी। चीन में माओ द्वारा पूँजीवादी पुनर्स्थापना के कारणों की सही पड़ताल के बावजूद उसकी शिक्षाओं के अमल द्वारा एक ही बार में पूँजीवादी पुनर्स्थापना को रोक देने में सफलता हासिल करने की सम्भावना भी कम ही थी और स्वयं माओ भी इस बात को समझते थे। चीन में पूँजीवादी पुनर्स्थापना ने भी महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के माओ के मार्क्सवादी सिद्धान्त को ग़लत नहीं बल्कि सही साबित किया है।

यहाँ हमने समाजवादी संक्रमण की समस्याओं पर बेहद संक्षेप में चर्चा की है, ताकि सभी साथियों के समक्ष एक शुरुआती तस्वीर आ सके। बेशक इसके कई पहलू अभी आपके लिए धुँधले और अधूरे हो सकते हैं। इसमें चिन्ता की कोई बात नहीं है। आगे इन चीज़ों को हम और विस्तार में समझेंगे। अभी के लिए एक तस्वीर पेश करना ही सम्भव था और फ़िलहाल यह पर्याप्त भी है।

7. निष्कर्ष के तौर पर...

आज सर्वहारा वर्ग को अक्टूबर क्रान्ति की 105वीं वर्षगाँठ के अवसर पर अक्टूबर क्रान्ति की उपरोक्त शिक्षाओं को आत्मसात करने की आवश्यकता है। केवल इन शिक्षाओं को आत्मसात करके ही सर्वहारा वर्ग अपने ऐतिहासिक लक्ष्य को पूरा कर सकता है। केवल तभी सर्वहारा वर्ग आज की चुनौतियों को समझ सकता है और उनका मुक़ाबला कर सकता है। केवल तभी वह अपने आपको एक राजनीतिक वर्ग के रूप में संगठित कर सकता है। केवल तभी वह पूँजीवादी राज्यसत्ता का ध्वंस कर पूँजीपति वर्ग को सत्ता से उखाड़कर फेंक सकता है, सर्वहारा सत्ता की स्थापना कर सकता है और समाजवादी निर्माण कर सकता है जो कि देश की मेहनतकश जनता को भूख, बेकारी, ग़रीबी, महँगाई, असुरक्षा और अनिश्चितता से निजात दिला सकते हैं।

अक्टूबर क्रान्ति को याद करके हम महज़ पुरखों के प्रति किसी उधार को चुकता नहीं कर रहे हैं और न ही किसी रस्म की अदायगी कर रहे हैं। हम महान अक्टूबर समाजवादी क्रान्ति की विरासत से एक आलोचनात्मक रिश्ता क़ायम कर रहे हैं, उसकी सीख को आत्मसात कर रहे हैं और इसलिए आत्मसात कर रहे हैं कि उसके सकारात्मक व नकारात्मक से सीखते हुए हम आज की चुनौतियों को समझ सकें, उनका मुक़ाबला कर सकें और इक्कीसवीं सदी की नयी समाजवादी क्रान्तियों के संस्करण रच सकें। वैज्ञानिक विचारधारा रखने वाले एक क्रान्तिकारी वर्ग के तौर पर सर्वहारा वर्ग अपनी गौरवशाली विरासत से इसी तरह से एक रिश्ता क़ायम करता है। ज़ाहिर है कि आज के पूँजीवाद और बीसवीं सदी के शुरुआती दशकों के पूँजीवाद में बहुत अन्तर है। उस समय की रूस की परिस्थितियों और आज के भारत की परिस्थितियों में भी बहुत अन्तर है। इसलिए बहुत-सी नयी चुनौतियाँ और समस्याएँ हैं और साथ ही बहुत-से नये सकारात्मक पहलू भी हैं, जिन्हें इक्कीसवीं सदी की नयी समाजवादी क्रान्तियों को अंजाम देने के लिए सर्वहारा वर्ग को समझना होगा और यह कार्य अक्टूबर क्रान्ति का अनुसरण करके नहीं किया जा सकता है। हमें अतीत की नक़ल नहीं करनी होती बल्कि उससे ज़रूरी सबक़ सीखने होते हैं। भविष्य की समस्याओं का समाधान अतीत में नहीं होता बल्कि भविष्य में होता है। लेकिन जो अतीत से नहीं सीखते, अतीत पर गोलियाँ चलाने की हिमाक़त करते हैं, भविष्य उनपर तोप से गोले बरसाता है। इसलिए अक्टूबर क्रान्ति की सार्वभौमिक शिक्षाओं की पहचान करनी होगी, जो वर्ग समाज और पूँजीवाद के रहते सार्वभौमिक वैधता रखती हैं और हमने इस लेख में ऐसी ही कुछ अहम शिक्षाओं को चिह्नित किया है।

इन सार्वभौमिक शिक्षाओं से यह स्पष्ट है कि आज हमारा प्रमुख कार्यभार है एक सही विचारधारात्मक समझ, सही राजनीतिक लाइन, हमारे देश की ठोस परिस्थितियों के ठोस विश्लेषण पर आधारित एक सही कार्यक्रम और बोल्शेविक सांगठनिक उसूलों पर यानी एक सही सांगठनिक लाइन पर आधारित एक नयी क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी का निर्माण करना; देश के मज़दूर आन्दोलन के बीच मौजूद विजातीय प्रवृत्तियों को बेनक़ाब करके उन्हें बेदख़ल करना, मसलन, संशोधनवाद, अराजकतावाद, अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद, अर्थवाद, मज़दूरवाद आदि, जिन पर हमने ऊपर संक्षिप्त चर्चा की है; हर रूप में शोषण और दमन के विरुद्ध सर्वहारा वर्ग के प्रतिरोध को पेश करना; और मौजूदा फ़ासीवादी निज़ाम द्वारा मेहनतकश जनता को धर्म, जाति आदि के आधार पर बाँटने की साज़िशों को नाकामयाब करना और एक क्रान्तिकारी फ़ासीवाद-विरोधी जन आन्दोलन खड़ा करना।

यदि हम उपरोक्त कार्यभारों पर सही तरीक़े से अमल की दिशा में आगे बढ़ते हैं, तो हम न सिर्फ़ प्रभावी तरीक़े से लड़ेंगे बल्कि हम अन्तत: अवश्य ही जीतेंगे। भविष्य हमारा है। **सर्वहारा वर्ग के पास हारने के लिए अपनी बेड़ियों के अलावा कुछ भी नहीं है और जीतने को सारी दुनिया है। सपने देखने का साहस करो! जीतने का साहस करो! आज अक्टूबर क्रान्ति की विरासत को याद करने और समझने का हमारे लिए यही अर्थ हो सकता है।**

क्रान्तिकारी मज़दूर शिक्षणमाला – 6

मूल्य के श्रम सिद्धान्त का विकास : एडम स्मिथ, डेविड रिकार्डो और मार्क्स – 1

• अभिनव

हर भौतिक चीज़ के विकास को ही नहीं बल्कि हर वैज्ञानिक सिद्धान्त के विकास को भी हमें ऐतिहासिक तौर पर समझना चाहिए। हमें कभी भूलना नहीं चाहिए कि कोई क्रान्तिकारी और वैज्ञानिक विचार कहीं आसमान से नहीं टपकता। एक ओर वह सामाजिक व्यवहार के बुनियादी रूपों और उनके अनुभवों के समाहार के ज़रिए विकसित होता है, वहीं वह अपने समय तक की बौद्धिक प्रवृत्तियों के साथ एक आलोचनात्मक रिश्ता क़ायम करके ही विकसित हो सकता है। मार्क्स ने भी अपना वैज्ञानिक और क्रान्तिकारी राजनीतिक अर्थशास्त्र किसी वैचारिक निर्वात में या शून्य में नहीं विकसित किया। एक ओर उन्होंने अपने समय की पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की ठोस गति की गहरी पड़ताल की, वहीं दूसरी ओर उन्होंने अपने समय तक पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की गतिकी पर पूँजीवादी राजनीतिक अर्थशास्त्रियों द्वारा किये गये अध्ययन का भी आलोचनात्मक विवेचन किया। इस प्रक्रिया में उन्होंने विलियम पेटी, जेरेमी बेंथम, डेविड ह्यूम, फ़िज़ियोक्रैट धारा के अर्थशास्त्रियों जैसे क्वेज़्ने, टर्गाट, आदि और विशेष तौर पर अंग्रेज़ी राजनीतिक अर्थशास्त्र के शिखरों, यानी **एडम स्मिथ** और **डेविड रिकार्डो** के राजनीतिक अर्थशास्त्र का गहराई से अध्ययन किया, उनकी सकारात्मक खोजों को पहचाना और उनका सही दिशा में विकास किया और साथ ही उनकी कमियों और ग़लतियों की आलोचना पेश की। मार्क्स के राजनीतिक अर्थशास्त्र को सही तरीक़े से समझने के लिए इस ऐतिहासिक विकास पर एक संक्षिप्त दृष्टि डालने से हमारी मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र यानी सर्वहारा वर्ग के राजनीतिक अर्थशास्त्र की समझदारी भी कहीं ज़्यादा स्पष्ट और उन्नत होगी।

हमने पिछले अध्याय में देखा था कि किस प्रकार हर माल का मूल्य उसमें लगे **प्रत्यक्ष/जीवित और अप्रत्यक्ष/मृत अमूर्त** श्रम की मात्रा से निर्धारित होता है, जो स्वयं **सामाजिक रूप से आवश्यक श्रमकाल** द्वारा मापा जाता है। हमने समझा कि हर माल का एक **उपयोग मूल्य** होता है और एक **विनिमय मूल्य** होता है। हमने यह भी देखा कि विनिमय मूल्य और कुछ नहीं बल्कि दो मालों के मूल्य का अनुपात होता है और माल का **मूल्य** स्वयं और कुछ नहीं बल्कि सामाजिक रूप से आवश्यक अमूर्त श्रम होता है।

लेकिन आज पूँजीवादी अर्थशास्त्र के सारे पाठ्यक्रमों में छात्रों को बताया जाता है कि माल का मूल्य और उसकी कीमत माँग और आपूर्ति से निर्धारित होती है और पूँजीपति का मुनाफ़ा भी माल को सस्ता ख़रीदने और महँगा बेचने के ज़रिए, यानी बाज़ार क़ीमतों के ज़रिए ही आता है। लेकिन यदि क़ीमत माँग और आपूर्ति से निर्धारित होती है, तो माँग और आपूर्ति के सम्पूर्ण सन्तुलन में होने पर उनकी क़ीमत शून्य होनी चाहिए! ज़ाहिर है, माँग और आपूर्ति के कारण मालों की बाज़ार क़ीमत के तात्कालिक उतार-चढ़ाव की व्याख्या ही की जा सकती है, न कि उनके मूल्य की।

वैसे भी मालों की माँग और आपूर्ति स्वयं किसी चीज़ की व्याख्या नहीं करते, बल्कि स्वयं उनकी व्याख्या करनी होती है। मिसाल के तौर पर, किसी माल की प्रभावी माँग किसी ख़ास क़ीमत पर प्रभावी माँग होती है; यदि क़ीमत घटती है, तो प्रभावी माँग बढ़ती है, जबकि यदि क़ीमत बढ़ती है तो प्रभावी माँग घटती है। नतीजतन, माँग में बढ़ोत्तरी या कमी क़ीमत के उतार-चढ़ाव की कोई व्याख्या पेश नहीं कर सकती है क्योंकि *हर प्रभावी माँग किसी न किसी क़ीमत पर एक प्रभावी माँग होती है।* इसी प्रकार आपूर्ति का स्तर अपने आप में किसी भी माल के उत्पादन के स्तर से निर्धारित होता है, जो कि स्वयं मुनाफ़े की दर से निर्धारित होता है। वह भी अपने आप में क़ीमतों को निर्धारित नहीं कर सकती है। **जब तक माल के मूल्य के निर्धारण के लिए उसके उत्पादन में लगे श्रम पर विचार न किया जाये, तब तक ये सारी समस्याएँ असमाधानित ही रहती हैं।**

लेकिन आप यदि यह बात आज किसी पूँजीपति या पूँजीवादी विचारधारा की गिरफ़्त में पड़े किसी मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी से कहें कि हर माल का मूल्य उसमें लगे मानवीय श्रम से तय होता है, तो वह आपको 'कम्युनिस्ट', 'मार्क्सवादी' आदि कहेगा और आपकी इस बात को बिना किसी तर्क के ख़ारिज करने की कोशिश करेगा कि माल का मूल्य वास्तव में उसमें लगे श्रम से ही तय होता है। वह माल की क़ीमत और पूँजीपति के मुनाफ़े को पूँजीपति की चालाकी, व्यापार-बुद्धि या कुशलता का नतीजा बतायेगा जिसके ज़रिए कोई पूँजीपति अन्य पूँजीपतियों को अपनी कुटिलता और घाघपन से ठगकर या चकमा देकर मुनाफ़ा कमाता है! लेकिन अगर ऐसा है तो समूचे सामाजिक स्तर पर *कुल मुनाफ़े (aggregate profit)* जैसी कोई चीज़ नहीं रह जायेगी क्योंकि किसी भी पूँजीपति का लाभ किसी दूसरे पूँजीपति की हानि से पैदा हो रहा है। यह न समझने वाले समाज की कुल समृद्धि में नियमित तौर पर होने वाली बढ़ोत्तरी की व्याख्या भी नहीं कर सकते हैं क्योंकि अगर एक पूँजीपति का लाभ दूसरे पूँजीपति की हानि है तो फिर कुल सामाजिक स्तर पर कुल अधिशेष में कोई बढ़ोत्तरी नहीं होनी चाहिए।

इसी प्रकार, पूँजीवादी विचारधारा की गिरफ़्त में पड़ा कोई व्यक्ति मज़दूर की मज़दूरी के बारे में कहेगा कि वह उसकी कुशलता या अकुशलता पर निर्भर करती है और उसने जितनी मेहनत दी, उसका भुगतान उसे मिल गया, उसका कोई शोषण नहीं हुआ! उसके पास शिकायत करने की कोई वजह नहीं होनी चाहिए! *पूँजीपति वर्ग, उसकी व्यवस्था और उसकी शिक्षा व्यवस्था व मीडिया आम तौर पर जनता को पूँजीपति वर्ग के मुनाफ़े और मज़दूर वर्ग की मज़दूरी के बारे में इसी प्रकार की मूर्खतापूर्ण अवैज्ञानिक बातें बताता है और अगर आप समूचे उत्पादन के मूल्य के तौर पर सामाजिक श्रम की बात करते हैं या समाज की समृद्धि के स्रोत के तौर पर मानव श्रम की बात करते हैं तो आपकी बात को 'मार्क्सवादी' या 'कम्युनिस्ट' बात कहकर बिना किसी तर्क के ख़ारिज करने का प्रयास किया जाता है।*

लेकिन मज़ेदार बात यह है कि सभी मालों का मूल्य उसमें लगे कुल मानव श्रम से निर्धारित होता है, यह कहने वाले मार्क्स पहले व्यक्ति नहीं थे। यह बात मार्क्स से पहले (कृषि उत्पादन के मामले में) फ़िज़ियोक्रैट धारा के अर्थशास्त्रियों जैसे क्वेज़्ने और टर्गोट ने और फिर आम तौर पर समस्त उत्पादन के मामले में **एडम स्मिथ** और **डेविड रिकार्डो** ने कही थी। स्मिथ और रिकार्डो ने इस बात को तर्कश: और तथ्यत: सिद्ध भी किया था, हालाँकि वे यह नहीं बता पाये थे कि पूँजीपति वर्ग का मुनाफ़ा कैसे और कहाँ से पैदा होता है। वे यह जानते थे कि हर माल के मूल्य के दो हिस्से हैं : पहला, अतीत के श्रम से पैदा हिस्सा, यानी अप्रत्यक्ष श्रम से पैदा हिस्सा जो कि कच्चे माल और मशीन आदि में लगे श्रम के रूप में माल के श्रम-मूल्य में जुड़ता है; और दूसरा, प्रत्यक्ष श्रम का हिस्सा जो मज़दूर के श्रम से पैदा होता है। वे यह भी जानते थे कि पूँजीवादी माल उत्पादन की शुरुआत के बाद प्रत्यक्ष श्रम से पैदा होने वाला नया मूल्य मज़दूरी और मुनाफ़े (और साथ ही लगान, कर, और ब्याज़) में बँटता है। *अत: उन्हें यह स्पष्ट था कि मज़दूर के श्रम द्वारा पैदा होने वाला सारा नया मूल्य उसे नहीं मिलता है।* लेकिन वे इसके विश्लेषण में नहीं जा पाते और मुनाफ़े के मूल स्रोत की तलाश नहीं कर पाते। वे बस इस तथ्य पर रुक जाते हैं कि प्रत्यक्ष या जीवित श्रम द्वारा सृजित नये मूल्य का मुनाफ़े और मज़दूरी में बँटवारा होता है। ऐसे में, निजी सम्पत्ति यानी उत्पादन के साधनों का मालिक होने के कारण एक प्रकार से पूँजीपति वर्ग नये मूल्य के एक हिस्से को मुनाफ़े के तौर पर हड़प लेने का उचित अधिकारी प्रतीत होने लगता है। इसीलिए मार्क्स ने एक बार क्लासिकीय राजनीतिक अर्थशास्त्र की आलोचना करते हुए कहा था कि उसका मक़सद निजी सम्पत्ति की व्याख्या करना, यानी उसके मूल को स्पष्ट करना होना चाहिए था, लेकिन वह अपने विश्लेषण की शुरुआत ही निजी सम्पत्ति के तथ्य को स्वीकार करके करता है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि स्मिथ और रिकार्डो के राजनीतिक अर्थशास्त्र का कोई वैज्ञानिक चरित्र और सकारात्मक भूमिका नहीं थी।

विशेष तौर पर, एडम स्मिथ और डेविड रिकार्डो के क्लासिकीय राजनीतिक अर्थशास्त्र की मार्क्स ने प्रशंसा की थी और कहा था कि पूँजीवाद और पूँजीवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र के इस प्रगतिशील दौर में पेश आर्थिक सिद्धान्तों के दो पहलू हैं : **वैज्ञानिक या गुह्य (esoteric) और विचारधारात्मक या आमफ़हम (exoteric)।** हमें इसके वैज्ञानिक पहलुओं को अपनाना चाहिए और उन्हें विकसित करना चाहिए और साथ ही उसके अवैज्ञानिक पहलुओं को त्यागना चाहिए। इसी को दर्शन की भाषा में हम 'निषेध का निषेध' के ज़रिए विकास कहते हैं जिसमें किसी भी चीज़ के सही और वैज्ञानिक पहलू को अपनाकर उसे विकसित किया जाता है जबकि उसके ग़लत या अवैज्ञानिक पहलू को त्याग दिया जाता है। जैसा कि कबीर ने कहा था, 'सार-सार का गहि रहे, थोथा देई उड़ाय'। मार्क्स ने एडम स्मिथ और डेविड रिकार्डो के मूल्य के श्रम सिद्धान्त की वैज्ञानिक आलोचना पेश की, उसके सकारात्मक पहलुओं को विकसित किया और इसी प्रक्रिया में बेशी मूल्य और उद्यमी के मुनाफ़े, भूस्वामी के लगान, सूदख़ोर के ब्याज़ और व्यापारी के वाणिज्यिक मुनाफ़े के विभिन्न रूपों में बेशी मूल्य के वितरण को स्पष्ट किया।

लेकिन एडम स्मिथ और डेविड रिकार्डो ने मूल्य के श्रम सिद्धान्त का किस प्रकार विकास किया, उनके सिद्धान्त के मूल तत्व क्या थे, और उनकी कमियाँ क्या थीं, इन्हें समझने से हमारे लिए यह समझना ज़्यादा आसान होगा कि मार्क्स ने उनकी क्या आलोचना की और किस प्रकार उन्होंने मूल्य के मार्क्सवादी श्रम सिद्धान्त को विकसित करते हुए बेशी मूल्य का सिद्धान्त दिया और पूँजीपति वर्ग के मुनाफ़े के घृणित-क्षुद्र रहस्य को उजागर किया।

पहले हम एडम स्मिथ के मूल्य के श्रम सिद्धान्त से शुरुआत करते हैं।

एडम स्मिथ : क्लासिकीय राजनीतिक अर्थशास्त्र की बुनियाद

एडम स्मिथ के आर्थिक सिद्धान्त के दो पहलू सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं : **पहला** यह कि किसी भी देश/राष्ट्र की समृद्धि का स्रोत उस देश/राष्ट्र का श्रम होता है। **दूसरा**, किसी भी माल की सापेक्षिक क़ीमत या विनिमय मूल्य उसमें लगे प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष श्रम से निर्धारित होती है।

एडम स्मिथ अपने विश्लेषण की शुरुआत माल उत्पादन के एक ऐसे दौर से करते हैं जिसे वह **'आरम्भिक आदिम अवस्था' (rude and early state)** कहते हैं। इस चरण में स्मिथ यह मानकर चलते हैं कि सभी उत्पादक स्वयं अपने उत्पादन के साधनों के स्वामी हैं। यानी सभी माल उत्पादक स्वयं अपने श्रम और अपने उत्पादन के साधनों से उत्पादन करते हैं और मुक्त प्रतिस्पर्द्धा वाले बाज़ार में माल बेचते हैं, यानी अपने मालों का आपस में विनिमय करते हैं। ज़ाहिर है कि वास्तव में ऐतिहासिक तौर पर माल उत्पादन में ऐसी कोई मंज़िल नहीं रही होगी, जब हरेक उत्पादक एक स्वतंत्र माल उत्पादक होगा जो कि अपने श्रम और उत्पादन के साधनों के साथ काम करता होगा और आदर्श रूप में मुक्त व्यापार और मुक्त प्रतिस्पर्द्धा की स्थितियों में बाज़ार में अपना माल बेचता होगा और भूमि में कोई निजी मालिकाना या उत्पादन के साधनों का कोई निजी इजारेदार मालिकाना नहीं होगा। निश्चित तौर पर, साधारण माल उत्पादन के इस दौर में भी व्यापारी, सूदख़ोर आदि रहे होंगे जो कि साधारण माल उत्पादकों से उनके मालों को उनके मूल्य से कम मूल्य पर ख़रीदते होंगे और उसके मूल्य पर बेचकर मुनाफ़ा पाते होंगे। इस मुनाफ़े को मार्क्स ने **'अलगाव द्वारा मुनाफ़ा'** या profit on alienation कहा था। **क्यों?** इसलिए क्योंकि यह माल उत्पादक से उसके माल को

(पेज 18 पर जारी)

मूल्य के श्रम सिद्धान्त का विकास : एडम स्मिथ, डेविड रिकार्डो और मार्क्स – 1

(पेज 17 से आगे)

उसके मूल्य से कम मूल्य पर *अलग करके*, यानी लेकर, और उसके मूल्य पर बाज़ार में बेचकर हासिल किया जाता है। अभी तक हम बेशी मूल्य की श्रेणी की बात नहीं कर सकते क्योंकि उत्पादक स्वयं ही श्रमिक भी हैं और स्वयं ही उत्पादन के साधनों के मालिक भी हैं। बहरहाल, एडम स्मिथ इस 'आरम्भिक आदिम अवस्था' की बात विश्लेषणात्मक तौर पर कर रहे हैं और अपने मूल्य के सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिए यह मानकर चल रहे हैं कि सभी उत्पादक इसी प्रकार के साधारण माल उत्पादक हैं और किसी अन्य प्रकार के विचलन (disturbance) जैसे कि व्यापारी, सूदख़ोर, भूस्वामी आदि को अभी वह तस्वीर में नहीं ला रहे हैं।

यही विज्ञान की पद्धति भी होती है। किसी भी नियम को उसके शुद्ध रूप में (law as such) समझने के लिए तमाम बाह्य प्रभावों या विचलनों को विश्लेषण या निर्धारण के पहले स्तर पर नज़रन्दाज़ करना आवश्यक होता है और उस नियम को स्थापित करने के बाद ही अन्य कारकों या विचलनों के उस पर प्रभाव का आकलन किया जा सकता है। अगर ऐसा न किया जाये तो न तो उस नियम को ही समझा जा सकता है और न ही उन कारकों या विचलनों को समझा जा सकता है जो कि नियम के कार्यान्वयन को प्रभावित करते हैं। मिसाल के तौर पर, गुरुत्वाकर्षण के नियम को स्थापित करने के लिए पहले ही घर्षण के प्रभाव की चर्चा नहीं की जाती है। गुरुत्वाकर्षण के नियम को शुद्ध रूप से स्थापित करने के बाद ही घर्षण के उस पर प्रभाव की चर्चा अर्थपूर्ण रूप में हो सकती है।

बहरहाल, स्मिथ कहते हैं कि मान लीजिए कि सभी माल उत्पादक स्वयं अपने श्रम और अपने उत्पादन के साधनों से उत्पादन करते हैं। ऐसे में, मालों की *सापेक्षिक* क़ीमत या विनिमय मूल्य उनके उत्पादन में लगे प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष श्रम से निर्धारित होगा। स्मिथ कहते हैं कि हर सेक्टर में एक घण्टे के श्रम के लिए मिलने वाली आय का समतुलन होता रहता है। क्यों? स्मिथ कहते हैं कि मान लीजिए कि एक माल के उत्पादन के क्षेत्र में उत्पादकों को एक घण्टे के श्रम के बदले औसतन रु. 15 की आमदनी होती है और एक दूसरे माल के उत्पादन के क्षेत्र में उत्पादकों को एक घण्टे के श्रम के बदले में औसतन रु. 13 की आमदनी होती है। ग़ौर करें कि यहाँ हम श्रम के हर घण्टे पर होने वाली *'आमदनी'* की बात कर रहे हैं, *'मज़दूरी'* की नहीं क्योंकि अभी उत्पादन के साधनों से वंचित कोई मज़दूर वर्ग नहीं पैदा हुआ है और न ही उत्पादन के साधनों पर इजारेदार मालिकाना रखने वाला कोई पूँजीपति वर्ग पैदा हुआ है। इसलिए स्मिथ की इस 'आरम्भिक अवस्था' में अभी पूँजी, मज़दूरी और मुनाफ़े की बात नहीं की जा सकती है। हाँ, यहाँ उत्पादन, विनिमय और प्रतिस्पर्द्धा मौजूद हैं। बहरहाल, यदि दो अलग-अलग मालों के उत्पादन के सेक्टरों में इस प्रकार से प्रति घण्टा श्रम की आमदनी में अन्तर होगा, तो हमारे उपरोक्त उदाहरण में, दूसरे माल के उत्पादन के क्षेत्र में से कुछ उत्पादक पहले माल के उत्पादन के क्षेत्र में जायेंगे क्योंकि वहाँ प्रति घण्टा श्रम पर होने वाली आय ज़्यादा है और नतीजतन पहले माल के उत्पादन के क्षेत्र में आपूर्ति की मात्रा बढ़ेगी और सापेक्षिक क़ीमत नीचे आयेगी और इसके विपरीत दूसरे माल के उत्पादन के क्षेत्र में से कुछ मात्रा में श्रम के पहले माल के उत्पादन के क्षेत्र में जाने के कारण आपूर्ति घटेगी और सापेक्षिक क़ीमत ऊपर जायेगी। इसके ज़रिए दोनों सेक्टरों में प्रति घण्टा श्रम के बदले होने वाली आमदनी में परिवर्तन आयेगा क्योंकि यह आय क़ीमतों के ज़रिए ही होती है। उत्पादकों के एक सेक्टर से दूसरे सेक्टर में जाने की यह प्रक्रिया तब तक चलेगी जब तक कि प्रति घण्टा श्रम की आय दोनों सेक्टरों में समान नहीं हो जाती है। बाज़ार की प्रतिस्पर्द्धा, जिसे स्मिथ बाज़ार का 'अदृश्य हाथ' कहते हैं, इस बात को सुनिश्चित करती है।

इसलिए श्रम के हर घण्टे पर होने वाली आमदनी सभी सेक्टरों में एक जारी प्रवृत्ति के तौर पर समतुलित होती रहेगी। ज़ाहिरा तौर पर, यह प्रक्रिया उथल-पुथल-भरी होगी और श्रम के हरेक घण्टे पर होने वाली औसत आमदनी का समतुलन एक प्रक्रिया के रूप में लगातार चलता रहेगा। लेकिन यह समतुलन होगा ज़रूर क्योंकि यह बाज़ार में होने वाली प्रतिस्पर्द्धा का नैसर्गिक परिणाम होता है। और स्मिथ के अनुसार हर माल के उत्पादन में लगने वाले श्रम पर होने वाली आमदनी के अनुसार ही माल का विनिमय मूल्य या सापेक्षिक क़ीमत निर्धारित होती है। **एडम स्मिथ के अनुसार, ऐसे में, हर माल की सापेक्षिक क़ीमत या विनिमय मूल्य उस माल के उत्पादन में लगे अप्रत्यक्ष श्रम और प्रत्यक्ष श्रम से निर्धारित होगी।** स्मिथ के लिए अप्रत्यक्ष श्रम वह श्रम है जो कि उत्पादन में लगे उत्पादन के साधनों के उत्पादन में पहले ही ख़र्च हो चुका है, जबकि प्रत्यक्ष श्रम वर्तमान उत्पादन में लग रहा मानव श्रम है। यानी मार्क्स जिसे मृत श्रम कहते हैं वह स्मिथ के लिए अप्रत्यक्ष श्रम है जबकि मार्क्स जिसे जीवित श्रम कहते हैं वह स्मिथ की शब्दावली में प्रत्यक्ष श्रम है। बहरहाल, इस प्रकार से, स्मिथ के अनुसार, हर माल का मूल्य उसमें लगे कुल श्रम (प्रत्यक्ष श्रम + अप्रत्यक्ष श्रम) की कुल मात्रा से निर्धारित होगा।

इसके लिए, स्मिथ एक उदाहरण देते हैं। वह कहते हैं कि कल्पना करें कि हम एक शिकार करने वाले समाज की बात कर रहे हैं। हम शिकार करने वाले दो समूहों की बात करते हैं। एक समूह ऊदबिलाव का शिकार करता है तो दूसरा बारहसिंघे का शिकार करता है। ऊदबिलाव का शिकार करने के लिए जाल की आवश्यकता होती है। माल उत्पादकों का एक अन्य समूह जाल बनाता है। उसी प्रकार बारहसिंघे का शिकार करने के लिए धनुष-बाण की आवश्यकता होती है। माल उत्पादकों का एक चौथा समूह धनुष-बाण बनाता है। यदि एक जाल को बनाने में 4 घण्टे लगते हैं और एक ऊदबिलाव के शिकार में औसतन 4 घण्टे लगते हैं, तो एक ऊदबिलाव की सापेक्षिक क़ीमत उसमें लगे 8 घण्टे के श्रम से निर्धारित हुई। उसी प्रकार, यदि धनुष-बाण बनाने में 2 घण्टे लगते हैं और एक बारहसिंघे के शिकार में औसतन 2 घण्टे लगते हैं, तो एक बारहसिंघे की सापेक्षिक क़ीमत 4 घण्टे के श्रम से निर्धारित हुई। नतीजतन, एक ऊदबिलाव के बदले दो बारहसिंघों का विनिमय होगा। *स्मिथ स्पष्ट करते हैं कि विनिमय का इस नियम के मातहत होना इसलिए अनिवार्य नहीं है क्योंकि यही नैतिक, उचित, न्यायपूर्ण या सही है, बल्कि वह स्पष्ट करते हैं कि ऐसा इसलिए होगा क्योंकि प्रतिस्पर्द्धा या बाज़ार का 'अदृश्य हाथ' इसे सुनिश्चित करेगा।*

यहाँ एक पहलू का ज़िक्र करके आगे बढ़ना होगा। स्मिथ निश्चित तौर पर श्रम को समृद्धि का स्रोत बताते हैं, लेकिन हर श्रम को नहीं। वह **ग़ैर-उत्पादन श्रम** (जो कि 'अनुत्पादक श्रम' की तुलना में एक बेहतर शब्द है) और उत्पादन में लगे श्रम या **उत्पादन-श्रम** में अन्तर करते हैं। स्मिथ के लिए उत्पादन-श्रम या 'उत्पादक श्रम' वह श्रम है जो समाज में समृद्धि का सृजन करता है, जबकि ग़ैर-उत्पादन श्रम या 'अनुत्पादक श्रम' वह श्रम है जो कि अन्य *सामाजिक प्रकार्यों* को पूरा करने के लिए उस समृद्धि का उपभोग करता है, जो निश्चित तौर पर ज़रूरी हो सकते हैं। अनुत्पादक श्रमिक में वह राज्य की संस्थाओं को संचालित करने वाले व्यक्तियों या समूहों को भी जोड़ते हैं। मिसाल के तौर पर, राजा और सेना स्मिथ के लिए अनुत्पादक श्रमिक की श्रेणी में आते हैं, हालाँकि स्मिथ तत्काल ही यह स्पष्ट कर देते हैं कि राजा को 'अनुत्पादक श्रमिक' बोलकर वह राजा का अपमान नहीं कर रहे हैं, बल्कि केवल एक वैज्ञानिक फ़र्क़ को स्पष्ट कर रहे हैं जो कि अनुत्पादक श्रम और उत्पादक श्रम के बीच मौजूद है! इसका यह अर्थ नहीं है कि स्मिथ के लिए राजा या सेना बेकार हैं या सामाजिक रूप से उपयोगी नहीं हैं। स्मिथ द्वारा उत्पादक व अनुत्पादक श्रम में किया गया अन्तर अलग-अलग रूपों में रिकार्डो और मार्क्स के लेखन में भी मौजूद है, लेकिन रिकार्डो में वह आगे विकसित होता है और सबसे व्यवस्थित रूप में वह मार्क्स के लेखन में विकसित होता है। मिसाल के तौर पर, स्मिथ में हर प्रकार की सेवा को अनुत्पादक श्रम का परिणाम मानने की प्रवृत्ति है, जबकि मार्क्स के लिए माल का छूने योग्य भौतिक वस्तु होना या एक उपयोगी व उत्पादक सेवा होना कोई विशेष महत्व नहीं रखता है। मार्क्स परिवहन की सेवा को भी एक माल ही मानते हैं, हालाँकि यह कोई ऐसा माल नहीं है जिसे छुआ जा सके। यह एक उपयोगी प्रभाव के रूप में पैदा होता है और पैदा होने की प्रक्रिया में ही उसका उपभोग भी हो जाता है, जो कि अन्य भौतिक मालों से उसे अलग करता है। इसलिए उत्पादक व अनुत्पादक श्रम के बीच महत्वपूर्ण अन्तर स्थापित करने के बावजूद स्मिथ उसे वैज्ञानिक तौर पर पूर्णत: विकसित नहीं कर पाये थे।

आगे बढ़ते हैं।

साधारण माल उत्पादन की अवस्था में श्रम द्वारा विनिमय मूल्य या सापेक्षिक क़ीमत के निर्धारण के सिद्धान्त को स्थापित करने के बाद, एडम स्मिथ सीधे *निजी सम्पत्ति* और *पूँजी* की श्रेणी को अपने विश्लेषण में जोड़ते हैं और माल उत्पादन के अपने इस 'आरम्भिक आदिम चरण' से पूँजीवादी माल उत्पादन के विश्लेषण पर आ जाते हैं। ग़ौरतलब है कि स्मिथ इस चर्चा में नहीं जाते हैं कि पूँजी और उजरती श्रम किस प्रकार उत्पादकों को उनके उत्पादन के साधनों से अलग करने से पैदा हुए, किस प्रकार इस प्रक्रिया के मूल में हिंसा और ज़ोर-ज़बर्दस्ती थी या इस पर नहीं विचार करते कि पूँजी और पूँजीवादी निजी सम्पत्ति का मूल कहाँ है। वे सीधे इस नये चरण में यानी पूँजीवादी माल उत्पादन के चरण में पूँजी और निजी सम्पत्ति की श्रेणी से शुरुआत करते हैं, जो कि पूँजीपति का नैसर्गिक अधिकार बन जाते हैं।

यहाँ एडम स्मिथ अपने पूरे विश्लेषण को समान रखते हुए बस एक चीज़ जोड़ देते हैं। स्मिथ के अनुसार, साधारण माल उत्पादन से पूँजीवादी माल उत्पादन में संक्रमण में अपने आप में कुछ ऐसा नहीं है जो माल के मूल्य के कुल श्रम की मात्रा के द्वारा निर्धारण के सिद्धान्त को ख़ारिज करे, बशर्ते कि कुछ पूर्वशर्तें पूरी होती हों। इन शर्तों पर आगे आते हैं। स्मिथ कहते हैं कि प्रत्यक्ष श्रम से जो नया मूल्य पैदा हो रहा है, वह बस अब मज़दूरी, मुनाफ़े और लगान में विभाजित हो रहा है। *ग़ौरतलब है कि इस तरह स्मिथ एक प्रकार से यह मान लेते हैं कि अब प्रत्यक्ष उत्पादक यानी मज़दूर के श्रम से जो मूल्य पैदा हो रहा है, उसका पूरा मूल्य उसे नहीं मिल रहा है और उसके श्रम से पैदा नये मूल्य का एक हिस्सा पूँजीपति और भूस्वामी द्वारा ले लिया जाता है।* इसीलिए मार्क्स 'बेशी मूल्य के सिद्धान्त' नामक अपनी पुस्तक के पहले खण्ड में कहते हैं कि एडम स्मिथ ने यहाँ एक प्रकार से अप्रत्यक्ष तौर पर बेशी मूल्य के अस्तित्व को स्वीकार कर लिया और इस प्रकार मज़दूर यानी प्रत्यक्ष उत्पादक के शोषण को भी स्वीकार कर लिया। ज़ाहिर है, स्मिथ सीधे ऐसा कहीं कहते नहीं हैं। वह बस इतना कहते हैं कि मज़दूर की जीवित/प्रत्यक्ष मेहनत के द्वारा जो मूल्य पैदा होता है वह मज़दूरी, मुनाफ़े और लगान में विभाजित होता है क्योंकि पूँजीपति यह दावा करता है कि कारख़ाना और उत्पादन के साधन उसके हैं इसलिए उसे एक हिस्सा मिलना चाहिए, जबकि भूस्वामी यह दावा करता है कि जिस ज़मीन पर कारख़ाना लगा है, वह उसकी है इसलिए उसे उसका हिस्सा मिलना चाहिए।

भूस्वामी वर्ग के प्रतिक्रियावादी चरित्र को समझना तो पूँजीवाद के उस प्रगतिशील दौर में किसी पूँजीवादी राजनीतिक अर्थशास्त्री के लिए भी सरल था, लेकिन पूँजीपति का नये मूल्य के एक हिस्से पर दावा किस प्रकार मज़दूर के शोषण पर आधारित है, यह बता पाना एडम स्मिथ जैसे प्रतिभावान और कुछ मामलों में प्रगतिशील पूँजीवादी राजनीतिक अर्थशास्त्री के लिए भी सम्भव नहीं था। महान से महान बुद्धिजीवी या वैज्ञानिक भी अपने वर्ग और इतिहास द्वारा उपस्थित सीमाओं का निरपेक्ष तौर पर अतिक्रमण नहीं कर सकते हैं। बहरहाल, स्मिथ नये मूल्य के मज़दूरी, मुनाफ़े और लगान में विभाजन के बारे में बात करते हैं *लेकिन वह यह नहीं बता पाते हैं कि इस नये मूल्य का मज़दूरी, मुनाफ़े और लगान के बीच में बँटवारा किस अनुपात में और किस नियम के तहत होता है।* पूँजीपति किस अनुपात में बेशी मूल्य हड़पता है, उसके किस हिस्से को लगान के तौर पर भूस्वामी को देता है और कितना हिस्सा मज़दूर को मज़दूरी के तौर पर मिलता है, और इन हिस्सों का अनुपात निर्धारित कैसे होता है, इस प्रश्न पर एडम स्मिथ आगे नहीं बढ़ पाये। इसीलिए वे पूँजीपति वर्ग के मुनाफ़े के स्रोत और उसके पैदा होने की प्रक्रिया के बारे में खुलासा नहीं कर सके। वजह यह थी कि वह श्रम और श्रमशक्ति के बीच अन्तर नहीं करते थे। लेकिन फिर भी मूल्य के श्रम सिद्धान्त को स्मिथ ने पेश किया और उसके आगे विकास की बुनियाद भी रखी।

एडम स्मिथ ने श्रम को समस्त समृद्धि का स्रोत बताया और कहा

(पेज 19 पर जारी)

मूल्य के श्रम सिद्धान्त का विकास : एडम स्मिथ, डेविड रिकार्डो और मार्क्स – 1

(पेज 18 से आगे)

कि किसी समाज का कुल श्रम उस समाज की समस्त समृद्धि का स्रोत है। वह दो रूपों में समस्त समृद्धि का स्रोत है : पहला, उसके द्वारा बनाये गये मालों के समाज द्वारा प्रत्यक्ष उपभोग के ज़रिए और दूसरा, एक देश द्वारा अपने मालों के दूसरे देश के मालों से विनिमय के ज़रिए। एडम स्मिथ के इस सिद्धान्त को बाद में डेविड रिकार्डो ने समस्त राजनीतिक अर्थशास्त्र का सबसे महत्वपूर्ण बुनियादी सिद्धान्त कहा और सही ही कहा। यह बात 1776 में, जब एडम स्मिथ की पुस्तक 'राष्ट्र की सम्पदा की प्रकृति और स्रोतों के बारे में एक अध्ययन' प्रकाशित हुई, एक महान वैज्ञानिक और क्रान्तिकारी बात थी। दूसरी बात, जो एडम स्मिथ कहते हैं वह यह कि मालों का विनिमय उनमें लगे प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष श्रम की कुल मात्रा के अनुसार तय होने वाली सापेक्षिक क़ीमत के आधार पर होता है। यही सिद्धान्त **एडम स्मिथ का मूल्य का श्रम सिद्धान्त कहलाता है।**

ज़ाहिरा तौर पर, एडम स्मिथ जानते थे कि श्रम अकेले हवा में समाज की सम्पदा को पैदा नहीं करता है और उसके लिए प्रकृति से कच्चे माल की आवश्यकता होती है। लेकिन स्मिथ श्रम को ही समस्त समृद्धि का स्रोत इसलिए बताते हैं क्योंकि उत्पादन की प्रक्रिया को वह एक **श्रम-प्रक्रिया** के रूप में देखते थे और उनके लिए *श्रम ही उत्पादन की प्रक्रिया का सक्रिय तत्व था।* प्रकृति से आने वाली सामग्री ख़ुद ही आपस में मिलकर कोई उपयोगी वस्तु नहीं बन जाती। यह काम श्रम द्वारा ही हो सकता है। यानी उत्पादन की प्रक्रिया में यह श्रम है जो कि **सक्रिय तत्व या कारक** की भूमिका निभाता है और इसलिए समस्त समृद्धि का स्रोत स्मिथ के लिए मानव श्रम था। यहाँ तक कि अधिकांश प्राकृतिक कच्चे मालों को भी प्रकृति से श्रम ख़र्च करके ही निकालना पड़ता है, वह ख़ुद-ब-ख़ुद उत्पादन हेतु इस्तेमाल के लिए उपयुक्त रूप में मौजूद नहीं होती है।

ये एडम स्मिथ के सिद्धान्तों में से वे बुनियादी सिद्धान्त हैं जिन्हें मार्क्स ने स्मिथ की शिक्षाओं का वैज्ञानिक पहलू क़रार दिया था और जिसे आगे रिकार्डो ने और फिर समुचित रूप में मार्क्स ने विकसित किया। अगर आज के भोंड़े पूँजीवादी अर्थशास्त्र यानी नवक्लासिकीय अर्थशास्त्र से इसकी तुलना करें, तो हमें एडम स्मिथ के इस सिद्धान्त की प्रगतिशीलता तुरन्त ही दिख जाती है। **आज का बुर्जुआ अर्थशास्त्र मालों के मूल्य के उत्पादन को किस प्रकार समझता है?** वह एक 'उत्पादन प्रकार्य' (production function) का सूत्र देता है जिसके अनुसार उत्पादन श्रम और पूँजी के बराबर सहयोग से पैदा होता है। यानी, Y (yield) = K (capital) + L (labour), या 'उत्पादन = पूँजी + श्रम'। इसमें श्रम की सक्रिय भूमिका छिप जाती है और उत्पादन को एक श्रम-प्रक्रिया के रूप में नहीं देखा जाता है, बल्कि एक ऐसी प्रक्रिया के रूप में देखा जाता है जिसमें श्रम और पूँजी का बराबर योगदान है और श्रम कोई अकेला सक्रिय तत्व या कारक नहीं है। यह वास्तव में समूचे उत्पादन के स्रोत के तौर पर श्रम की भूमिका को छिपाने और पूँजी के मूल को छिपाने के लिए उठाया गया एक विचारधारात्मक क़दम है। लेकिन नवक्लासिकीय अर्थशास्त्र के विपरीत, एडम स्मिथ ऐसा कुछ नहीं मानते थे। वह स्पष्ट तौर पर मानते थे कि समस्त सम्पदा का स्रोत श्रम ही है। मार्क्स ने बाद में इसे सटीक करते हुए बताया था कि समस्त सम्पदा के दो स्रोत हैं : **श्रम और प्रकृति** और समस्त मूल्य का केवल एक स्रोत है : **श्रम।** लेकिन फिर भी यहाँ एडम स्मिथ के सिद्धान्त के वैज्ञानिक चरित्र को स्पष्ट तौर पर देखा जा सकता है।

जैसा कि हम देख सकते हैं, एडम स्मिथ के सिद्धान्त की एक समस्या थी पूँजीवादी समाज में पूँजी, मुनाफ़े और मज़दूरी की श्रेणियों की मौजूदगी में मालों के मूल्य का श्रम की मात्रा के द्वारा निर्धारण। इस सिद्धान्त को साधारण माल उत्पादन के समाज पर (जिसे स्मिथ 'आरम्भिक आदिम अवस्था' कहते थे) तो सटीकता से लागू किया जा सकता था, लेकिन एक पूँजीवादी माल उत्पादन वाले समाज पर लागू होने की उसकी अपनी जटिलताएँ थीं। दूसरे शब्दों में, एडम स्मिथ का मूल्य का श्रम-सिद्धान्त एक ऐसे माल उत्पादक समाज में मालों के मूल्य या सापेक्षिक क़ीमत का प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष श्रम की मात्रा के ज़रिए निर्धारण कर सकता था जिसमें कि माल उत्पादक स्वयं अपने उत्पादन के साधनों के स्वामी हों, लेकिन जैसे ही प्रत्यक्ष उत्पादकों को उत्पादन के साधनों से अलग कर मज़दूर बना दिया जाता है और उत्पादन के साधन का मालिकाना पूँजीपति वर्ग के हाथ में आ जाता है; जैसे ही निजी सम्पत्ति, पूँजी व मज़दूरी की श्रेणियाँ पैदा हो जाती हैं, वैसे ही स्मिथ का मूल्य का श्रम सिद्धान्त कई चीज़ों की व्याख्या नहीं कर पाता : *जैसे कि पूँजीपति और मज़दूर के बीच का असमान विनिमय, क़ीमत और मूल्य में अन्तर/विचलन पैदा होना, मुनाफ़े का स्रोत, आदि।*

वजह यह थी कि स्मिथ श्रम और श्रमशक्ति में भेद नहीं करते थे और इसीलिए वह बेशी मूल्य के सिद्धान्त तक भी नहीं पहुँच पाये। एडम स्मिथ वास्तविक उदाहरणों से जानते थे कि श्रम से निर्धारित सापेक्षिक क़ीमत या विनिमय मूल्य के सापेक्ष बाज़ार क़ीमतें कुछ अलग हो जाती हैं, या वे श्रम-मूल्य से विचलन करती हैं। एडम स्मिथ इस विचलन को व्याख्यायित नहीं कर पाते और इसे दूर करने के लिए दो चीज़ों को नियतांक मान लेते हैं। **पहला**, वह मान लेते हैं कि हर उद्यम में प्रत्यक्ष श्रम से पैदा होने वाला नया मूल्य समान अनुपात में मज़दूरी और मुनाफ़े में मज़दूर और पूँजीपति के बीच बँटता है; **दूसरा**, वह मान लेते हैं कि हर उद्योग में पूँजी और श्रम का अनुपात, यानी उत्पादन के साधनों पर होने वाले ख़र्च और श्रम(शक्ति) पर होने वाले ख़र्च का अनुपात समान होगा। मार्क्स ने इसी अनुपात को पूँजी का **आवयविक संघटन** कहा था। यह उत्पादन के साधनों पर लगने वाली पूँजी और श्रमशक्ति को ख़रीदने पर लगने वाली पूँजी का यानी **स्थिर पूँजी** और **परिवर्तनशील पूँजी** का अनुपात है। इन अवधारणाओं पर हम आगे के अध्यायों में विस्तार से चर्चा करेंगे।

ग़ौरतलब है कि एडम स्मिथ श्रमशक्ति की अवधारणा तक नहीं पहुँच सके थे और यही समझते थे कि पूँजीपति और मज़दूर के बीच श्रम और मज़दूरी का विनिमय हो रहा है; कई वजहों के अलावा यह एक प्रमुख वजह थी कि वह बेशी मूल्य के सिद्धान्त तक भी नहीं पहुँच सके थे। श्रमशक्ति की अवधारणा को न समझ पाने के कारण स्मिथ पूँजीपति और मज़दूर के बीच होने वाले विनिमय की व्याख्या नहीं कर पाते थे क्योंकि उनकी नज़र में यह विनिमय **समतुल्यों के विनिमय के नियम** का खण्डन करता नज़र आता था, जिसके अनुसार, श्रम की समान मात्राओं का विनिमय होता है। साथ ही, श्रम-मूल्य और सापेक्षिक क़ीमत के बीच आने वाले अन्तर को भी एडम स्मिथ सही तरीक़े से व्याख्यायित नहीं कर पाये और इस विचलन को नज़रन्दाज करने के लिए उन्हें हर जगह नये मूल्य के मुनाफ़े और मज़दूरी में समान अनुपात में बँटवारे और हर उद्योग में पूँजी-श्रम के समान अनुपात की कल्पना करनी पड़ी। लेकिन चूँकि वास्तव में ऐसा नहीं होता है, और एडम स्मिथ भी यह तथ्य जानते थे, इसलिए अन्ततः वे मूल्य के श्रम सिद्धान्त से ही विचलन कर गये और **'मूल्य के उत्पादन-लागत सिद्धान्त' (production-cost theory of value)** पर पहुँच गये। **यहाँ एडम स्मिथ के सिद्धान्त का वैज्ञानिक पहलू धूमिल हो जाता है और उसका विचारधारात्मक पहलू प्रधान होता जाता है।**

एडम स्मिथ कहते हैं कि यदि सभी पूँजीपति नये मूल्य से समान अनुपात में मुनाफ़ा पायें और सभी उद्योगों में यदि श्रम और पूँजी का अनुपात समान हो, तब उनका मूल्य का श्रम सिद्धान्त लागू होता है, मगर यदि पूँजीवादी व्यवस्था में ऐसा नहीं हो रहा हो, तो फिर सापेक्षिक क़ीमत के उत्पादन-लागत सिद्धान्त पर जाना पड़ता है। हालाँकि स्मिथ इसीलिए यह भी कहते हैं कि पूँजीवाद में अपने आप में कुछ ऐसा नहीं है जो कि मूल्य के श्रम-सिद्धान्त को ख़ारिज करे, लेकिन उनके अनुसार यदि उपरोक्त दो शर्तें पूरी नहीं होतीं तो यह सापेक्षिक क़ीमतों के श्रम-मूल्य से विचलन को व्याख्यायित नहीं कर पाता है और वहाँ हमें मूल्य के उत्पादन-लागत सिद्धान्त पर जाना पड़ता है।

यह मूल्य का उत्पादन-लागत सिद्धान्त क्या था? इसके तहत, स्मिथ *मुनाफ़े की एक नैसर्गिक दर* और *मज़दूरी की एक नैसर्गिक दर* की कल्पना करते हैं। उसके अनुसार, वे उत्पादन के साधन पर हुए ख़र्च और मज़दूरी पर हुए ख़र्च का आकलन करते हैं और उस कुल ख़र्च के आधार पर मुनाफ़े की नैसर्गिक दर के अनुसार एक मुनाफ़ा निकालते हैं और उसे लागत में जोड़ देते हैं। लागत और मुनाफ़े की नैसर्गिक दर से प्राप्त मुनाफ़े का योग ही माल की सापेक्षिक क़ीमत होती है। लेकिन इसमें समस्या यह होती है कि स्मिथ नहीं बता पाते हैं कि मुनाफ़े की यह नैसर्गिक दर और मज़दूरी की यह नैसर्गिक दर बनती कैसे है और इसमें श्रम की उत्पादकता और उसकी मात्रा की क्या भूमिका है। यह अवैज्ञानिक व अतार्किक सिद्धान्त ही आगे चलकर भोंड़े पूँजीवादी अर्थशास्त्र यानी नवक्लासिकीय अर्थशास्त्र ने अपनाया, जबकि स्मिथ की शिक्षाओं के वैज्ञानिक पहलू को उसने नकार दिया। **नतीजतन, स्मिथ का मूल्य का श्रम सिद्धान्त कुछ बुनियादी बातों को न समझ पाने के कारण वास्तविक पूँजीवादी माल उत्पादन की व्याख्या करने में धराशायी हो जाता है।**

संक्षेप में, स्मिथ के सिद्धान्त की इस कमज़ोरी के पीछे कई अन्तरविरोध थे। जैसा कि हमने ऊपर इशारा किया, **पहला प्रमुख अन्तरविरोध** तो यह था कि स्मिथ जानते थे कि बाज़ार में हमेशा समतुल्यों का विनिमय होता है लेकिन पूँजीवादी उत्पादन में पूँजीपति और मज़दूर के बीच के विनिमय में वह समतुल्यता नहीं देख पाते थे। कोई 10 घण्टे के श्रम की जगह 5 घण्टे के श्रम का विनिमय नहीं करेगा। स्मिथ यह भी समझते थे कि पूँजीवादी माल उत्पादन की स्थिति में समूचा नया मूल्य पैदा तो मज़दूर के प्रत्यक्ष श्रम से ही हो रहा है, लेकिन उसका एक हिस्सा मुनाफ़े और दूसरा हिस्सा लगान के तौर पर क्रमशः पूँजीपति और भूस्वामी के पास जाता है। ऐसे में, *विनिमय की समतुल्यता का बुनियादी सिद्धान्त* ही ख़तरे में पड़ जाता है। स्मिथ यह नहीं समझ पाते कि मज़दूर वास्तव में अपनी श्रमशक्ति पूँजीपति को बेच रहा है जो कि स्वयं एक माल बन चुकी है और उसका मूल्य भी उसके उत्पादन व पुनरुत्पादन के लिए आवश्यक श्रम, यानी मज़दूर और उसके परिवार के जीवित रहने हेतु आवश्यक वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन में लगने वाले सामाजिक श्रम से निर्धारित होता है और मज़दूर को मज़दूरी के रूप में सामाजिक तौर पर और औसतन अपनी श्रमशक्ति की क़ीमत ही प्राप्त होती है। यहाँ समतुल्यों का ही विनिमय होता है : **श्रमशक्ति और मज़दूरी।** लेकिन *श्रमशक्ति उत्पादन के दौरान अपने ख़र्च होने की प्रक्रिया में अपने मूल्य से ज़्यादा मूल्य सृजित करती है, दूसरे शब्दों में, वह अपने मूल्य के बराबर मूल्य पैदा करने के बाद पूँजीपति के लिए अतिरिक्त मूल्य पैदा करती है और यही बेशी मूल्य पूँजीपति, भूस्वामी और सूदख़ोर सभी की आय का स्रोत होता है।* एडम स्मिथ श्रमशक्ति की अवधारणा तक न पहुँचने के बावजूद यह जानते थे कि मनुष्य की उत्पादकता इस मंज़िल पर पहुँच चुकी है कि एक श्रमिक अपने जीविकोपार्जन के लिए आवश्यक वस्तुओं के मूल्य से ज़्यादा मूल्य एक कार्यदिवस में पैदा कर लेता है क्योंकि इसके बिना समाज में न तो सामाजिक अधिशेष पैदा हो सकता है और न ही वर्ग पैदा हो सकते हैं। और स्मिथ समाज में वर्गों के अस्तित्व से भली-भाँति परिचित थे और समाज के तीन सबसे प्रमुख वर्गों में बँटवारे (पूँजीपति, भूस्वामी और मज़दूर) और उसके अनुसार आय के तीन प्रमुख रूपों (मुनाफ़ा, लगान, मज़दूरी) के अस्तित्व की बात स्वयं उन्होंने स्पष्ट की थी। ऐसे में, स्मिथ के मूल्य के सिद्धान्त के पूँजीवादी माल उत्पादन की व्याख्या के मामले में अन्तरविरोधों में फँसने की ही अपेक्षा की जा सकती थी, क्योंकि वह श्रमशक्ति और पूँजीवादी समाज में उसके भी एक माल में तब्दील हो जाने की अवधारणा को नहीं समझ पाये।

दूसरा, स्मिथ यह भी नहीं समझ पाते कि साधारण माल उत्पादन से पूँजीवादी माल उत्पादन में विकास की प्रक्रिया में पूँजी और निजी सम्पत्ति आती कहाँ से है। वह इसके लिए एक **संयम/कंजूसी सिद्धान्त (parsimony theory)** देते हैं, जिसके अनुसार यह पूँजीपतियों का संयम होता है जिसके कारण वे ख़र्च करने की प्रवृत्ति का दमन करते हैं, संचय करते हैं और यही उनकी निजी सम्पत्ति और पूँजी का स्रोत होती है। स्मिथ नहीं समझ पाते कि उजरती श्रम और पूँजी के दो ध्रुवों के पैदा होने के पीछे आदिम संचय की हिंस्र प्रक्रिया थी जिसमें कि साधारण माल उत्पादकों को उनके उत्पादन के साधनों से ज़बरन वंचित किया गया और इसी

(पेज 20 पर जारी)

मूल्य के श्रम सिद्धान्त का विकास : एडम स्मिथ, डेविड रिकार्डो और मार्क्स – 1

(पेज 19 से आगे)

के साथ एक ओर मज़दूरों का एक ऐसा वर्ग पैदा हुआ जिसके पास अपनी श्रमशक्ति के अतिरिक्त कुछ भी नहीं था, जबकि दूसरी ओर पूँजीपतियों का एक ऐसा वर्ग पैदा हुआ जिसके पास उत्पादन के साधनों की इजारेदारी थी। यह पूँजीवादी समाज का 'मूल पाप' था जिससे पूँजीवादी समाज का ध्रुवीय अन्तरविरोध, यानी श्रम और पूँजी के बीच का अन्तरविरोध अस्तित्व में आया। इसी के साथ **पूँजी-सम्बन्ध** या **मज़दूरी-सम्बन्ध** अस्तित्व में आया। उसके पहले सूदख़ोर पूँजी या व्यापारिक पूँजी के रूप में पूँजी का अस्तित्व था जो कि माल उत्पादकों से असमान विनिमय करके 'अलगाव के ज़रिए मुनाफ़ा' प्राप्त करती थी, जिसके बारे में हमने ऊपर चर्चा की है, लेकिन वह स्वयं उत्पादन की प्रक्रिया में श्रम को अपने मातहत कर बेशी मूल्य का उत्पादन नहीं करती थी। यह दौर अभी पूँजीवादी व्यवस्था का नहीं था और माल उत्पादकों से असमान विनिमय या 'अलगाव के ज़रिए मुनाफ़ा' प्राप्त करने वाली सूदख़ोर व व्यापारिक पूँजी का अस्तित्व दास समाज और सामन्ती व्यवस्था के दौर से ही था। *इसलिए यह समझना आवश्यक है कि पूँजी, यानी धन की एक ऐसी मात्रा जो निवेश करने पर बढ़ती हो, का इतिहास पूँजीवाद के इतिहास से पुराना है।* सूदख़ोर पूँजी और व्यापारिक पूँजी उत्पादन की श्रम-प्रक्रिया को अपने मातहत लिये बिना यह कार्य करते थे। लेकिन पूँजीवाद का इतिहास आदिम संचय, उजरती श्रम और उद्यमी पूँजी के पैदा होने, उत्पादन की समूची प्रक्रिया और श्रम के पूँजी द्वारा मातहत किये जाने और पूँजी द्वारा बेशी मूल्य के उत्पादन और फिर बेशी मूल्य के पूँजी में रूपान्तरण के साथ शुरू होता है। उत्पादन के साधनों पर पूँजीपति वर्ग की इजारेदारी स्थापित होने और अपनी श्रमशक्ति को बेचने को बाध्य मज़दूर वर्ग के पैदा होने के साथ और पूँजी-सम्बन्ध और मज़दूरी-सम्बन्ध स्थापित होने के साथ पूँजी ने श्रम-प्रक्रिया को अपने मातहत किया और बेशी मूल्य का उत्पादन और अधिग्रहण अपने अधिकार में लिया।

तीसरा, स्मिथ यह नहीं समझ पाते हैं कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में मालों के श्रम-मूल्य और उनकी क़ीमत में अन्तर क्यों आता है। इस अन्तर की व्याख्या नहीं कर पाने के कारण उनका मूल्य का श्रम-सिद्धान्त ही ख़तरे में पड़ जाता है और उसे बचाने के लिए ही वह दो ऐसी कल्पनाएँ करते हैं, जो कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में आम तौर पर सम्भव ही नहीं होती हैं। वजह यह कि स्मिथ समझते हैं कि आम तौर पर अलग-अलग उद्योगों में पूँजी और श्रम का अनुपात अलग होगा और उसके कारण उनमें मुनाफ़े की दर अलग-अलग होंगी। लेकिन अगर इस स्थिति पर विचार करें तो स्मिथ का मूल्य का श्रम सिद्धान्त ही ख़तरे में पड़ जाता है। रिकार्डो और बाद में उपयुक्त रूप से वैज्ञानिक रूप में मार्क्स ने बताया कि क़ीमतों के मूल्यों से विचलन के बावजूद मूल्य का श्रम सिद्धान्त क़ायम रहता है। असल में होता यह है यदि मुनाफ़े की दरें अलग-अलग उद्योगों में अलग-अलग होंगी, तो फिर पूँजी का प्रवाह कम मुनाफ़े की दर वाले उद्योगों या आर्थिक क्षेत्रों से अधिक मुनाफ़े की दर वाले आर्थिक क्षेत्रों में होगा। इसके कारण, माँग और आपूर्ति के समीकरण अलग-अलग उद्योगों में बदलेंगे। अधिक मुनाफ़े की दर वाले आर्थिक क्षेत्रों में आपूर्ति बढ़ेगी, क़ीमतें गिरेंगी और मुनाफ़े की दर भी गिरेगी, हालाँकि माल के मूल्य में अपने आप में इस कारक से कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। उसी प्रकार जिन क्षेत्रों में मुनाफ़े की दर कम होगी, उनमें आपूर्ति सापेक्षिक तौर पर घटेगी, क़ीमतें बढ़ेंगी और मुनाफ़े की दर बढ़ेगी। तमाम आर्थिक क्षेत्रों में मुनाफ़े की दर के अन्तर के कारण होने वाले पूँजी के निरन्तर अन्तर्प्रवाह के कारण मुनाफ़े की दर का सतत् औसतीकरण होता रहेगा। बाज़ार में होने वाली प्रतिस्पर्द्धा इसे सुनिश्चित करती है। हर पूँजी अपने लिए औसत मुनाफ़े की अपेक्षा करेगी और मुनाफ़े की दर के औसतीकरण की प्रवृत्ति के कारण मालों के मूल्य मालों की उत्पादन की क़ीमतों (prices of production) में रूपान्तरित होंगे और उनमें एक अन्तर आयेगा। **लेकिन इसके बावजूद पूरी अर्थव्यवस्था के स्तर पर कुल मूल्य कुल क़ीमत के बराबर ही होगा और यह विचलन भी मूल्य के श्रम सिद्धान्त के अन्तर्गत ही होता है। यह विचलन या अपवाद नियम को ख़ारिज नहीं बल्कि सिद्ध करता है।** इस बात को आंशिक तौर पर अपने तरीक़े से रिकार्डो ने समझा और यह बताया कि पूँजी, उजरती श्रम, मुनाफ़े की मौजूदगी के बावजूद मालों की क़ीमत उनमें लगे प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष श्रम की मात्रा से ही निर्धारित होती है और रिकार्डो ने इसे प्रदर्शित भी किया, लेकिन बाद में इसको सम्पूर्ण रूप में वैज्ञानिक तौर पर मार्क्स ने समझा। इस पर हम आगे के अध्यायों में विस्तृत रूप में चर्चा करेंगे।

एडम स्मिथ ने मूल्य का श्रम सिद्धान्त दिया लेकिन अपने विचारधारात्मक पूर्वाग्रहों के कारण वह उसे वैज्ञानिक रूप में आगे तक विकसित नहीं कर सके। उनकी विचारधारा पूँजीवादी विचारधारा थी। लेकिन स्मिथ पूँजीवाद के उभार के दौर के राजनीतिक अर्थशास्त्री थे। यह वह दौर था जब पूँजीवाद सामन्तवाद और चर्च की बेड़ियों के विरुद्ध लड़ रहा था, व्यक्ति की स्वतंत्रता और जनवाद के लिए लड़ रहा था। उस दौर में वह ऐतिहासिक तौर पर प्रगतिशील था। चूँकि मेहनतकश जनता भी सामन्ती निरंकुशता और चर्च के विरुद्ध जनवाद और स्वतंत्रता चाहती थी, इसलिए उभरते हुए पूँजीपति वर्ग के साथ उसका एक मोर्चा था। पूँजीपति वर्ग इस मोर्चे में राजनीतिक और आर्थिक तौर पर सबसे शक्तिशाली और परिपक्व था। यह मैन्युफ़ैक्चरिंग का दौर था, जब अभी पूँजीवादी उद्योगों का मशीनीकरण व्यवस्थित तौर पर शुरू नहीं हुआ था। औद्योगिक क्रान्ति अभी होनी थी। एडम स्मिथ मैन्युफ़ैक्चरिंग के दौर के पूँजीपति वर्ग की विचारधारा का प्रतिनिधित्व करते थे। वह मानते थे कि मनुष्य की नैसर्गिक प्रवृत्ति अपने व्यक्तिगत निजी हितों के लिए काम करना है, विनिमय करने की प्रवृत्ति (यानी बेचने-ख़रीदने की प्रवृत्ति) उसकी प्रकृति में ही है और इसी के ज़रिए वह लाभ प्राप्त करने का प्रयास करता है। एक माल उत्पादक की प्रकृति को उन्होंने मनुष्य की प्रकृति क़रार दे दिया, बजाय एक माल उत्पादक के रूप में मनुष्य की प्रकृति को समझने के। इसी पूँजीवादी व्यक्तिवादी विचारधारा ने उनकी वैज्ञानिक दृष्टि को भी बाधित किया। यही कारण था कि वह समझ नहीं सके कि पूँजी और निजी सम्पत्ति का मूल क्या है, पूँजीपति वर्ग के मुनाफ़े का स्रोत क्या है, मज़दूर और पूँजीपति के बीच किसी चीज़ का विनिमय होता है।

स्मिथ मानते थे कि उत्पादन के सभी कारकों को अगर हम ऊर्ध्वाधर रूप में तोड़ते जायें (vertical break-up) तो अन्त में हम श्रम और प्रकृति पर ही पहुँचेंगे और इसीलिए सम्पूर्ण पूँजी निवेश को अन्ततः मज़दूरी के रूप में अभिव्यक्त किया जा सकता है। ज़ाहिर है कि यह बात ग़लत है क्योंकि उत्पादन को उसके मूल तक ले जायें तो ज़ाहिरा तौर पर हमें श्रम और प्रकृति से मिलने वाली वस्तुओं के अलावा कुछ नहीं मिलेगा, लेकिन उत्पादन के हर स्तर पर उत्पादन के साधनों का मालिकाना और नये मूल्य से मुनाफ़े का पूँजीपति वर्ग द्वारा हड़पे जाने को इससे नज़रन्दाज़ नहीं किया जा सकता है। स्मिथ कहते हैं कि चूँकि पूँजीवाद में पूँजी के संचय की प्रवृत्ति होती है, इसलिए पूँजी का निवेश बढ़ता है, श्रमशक्ति की माँग बढ़ती है, मज़दूरी बढ़ती है। स्मिथ इस आधार पर यह नतीजा निकालते हैं कि पूँजीवाद के विकास का फ़ायदा मज़दूर वर्ग को मिलेगा क्योंकि यह मज़दूरी को बढ़ायेगा। लेकिन अभी मशीनीकरण का दौर शुरू नहीं हुआ था इसलिए स्मिथ यह नहीं समझ पाते कि पूँजी संचय बढ़ने के साथ जब पूँजीपति निवेश बढ़ाते हैं, तो उसमें मशीनों व तकनोलॉजी पर निवेश सापेक्षिक तौर पर बढ़ता जाता है जबकि श्रमशक्ति पर निवेश सापेक्षिक तौर पर घटता जाता है। नतीजतन, पूँजी संचय अनिवार्यतः श्रमशक्ति की माँग को हमेशा नहीं बढ़ाता है। वह बेरोज़गारों की एक रिज़र्व आर्मी को हमेशा उत्पादित और पुनरुत्पादित करता रहता है और निरपेक्ष तौर पर कहें तो यह रिज़र्व आर्मी छोटी नहीं होती बल्कि बढ़ती जाती है, हालाँकि श्रम की सक्रिय सेना यानी रोज़गारशुदा मज़दूर आबादी से इसका अनुपात पूँजी संचय में तेज़ी या मन्दी के अनुसार बदलता रहता है। पूँजी संचय का नतीजा अन्त में समाज के एक छोर पर समृद्धि और दूसरे छोर पर दरिद्रता का संचय होते जाना होता है, न कि मज़दूरी का अनिवार्यतः बढ़ना। पूँजीपति उत्पादकता को बढ़ाकर श्रमशक्ति के मूल्य को कम करता है, नये उत्पादित मूल्य में मज़दूरी का हिस्सा सापेक्षिक तौर पर (और मन्दी के दौरों में निरपेक्ष तौर पर भी) घटता है, जबकि मुनाफ़े का हिस्सा सापेक्षिक तौर पर बढ़ता है। यह पूँजी संचय होने की सूरत में आम प्रवृत्ति होती है। लेकिन स्मिथ मैन्युफ़ैक्चरिंग के दौर के पूँजीवादी राजनीतिक अर्थशास्त्री थे, इसलिए वह विशेष तौर पर मशीनीकरण के दौर की फ़ैक्टरी व्यवस्था की इस विशिष्टता को नहीं पहचान पाये। मैन्युफ़ैक्चरिंग के दौर में, स्मिथ के लिए उत्पादकता को बढ़ाने का एकमात्र स्रोत श्रम विभाजन था। और, स्मिथ के अनुसार, यह अपने आप में आम तौर पर पूँजी निवेश में श्रमशक्ति के ऊपर निवेश के हिस्से को उत्पादन के साधनों पर निवेश के हिस्से की तुलना में सापेक्षिक तौर पर घटाता नहीं है। इसलिए **स्मिथ यह नहीं समझ पाये कि पूँजीवादी उद्योग के विकास और पूँजी संचय के साथ मज़दूर वर्ग ख़ुशहाल नहीं होता जाता बल्कि सापेक्षिक तौर पर दरिद्र होता जाता है।** यही वजह है कि स्मिथ पूँजीवादी विकास को मज़दूर वर्ग के हित के लिए अच्छा मानते हैं, क्योंकि वह नहीं समझ पाते कि पूँजी के आवयविक संघटन का बढ़ते जाना पूँजीवाद में पूँजीपति वर्ग की आपसी प्रतिस्पर्द्धा और पूँजीपति वर्ग और मज़दूर वर्ग के बीच के संघर्ष की एक नैसर्गिक और अनिवार्य आम प्रवृत्ति है।

यह आम प्रवृत्ति नहीं समझ पाने के कारण ही स्मिथ यह भी नहीं समझ पाये कि पूँजीवाद में मुनाफ़े की औसत दर में गिरने की आम दीर्घकालिक प्रवृत्ति का क्या कारण है। वह उत्पादन के एक क्षेत्र के भीतर तो उसकी व्याख्या पूँजी के अतिप्रवाह और अतिउत्पादन के तौर पर कर पाते हैं लेकिन समूची पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में इस आम प्रवृत्ति की वह व्याख्या नहीं कर पाते हैं, हालाँकि वह इस तथ्य से बख़ूबी परिचित थे कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में मुनाफ़े की औसत दर में गिरने की दीर्घकालिक प्रवृत्ति होती है। इसलिए आवर्ती क्रम में आने वाले पूँजीवादी संकट, यानी मुनाफ़े की दर के संकट, के कारणों की भी एक वैज्ञानिक समझदारी स्मिथ नहीं विकसित कर सके थे।

लेकिन इन सभी कमियों के बावजूद एडम स्मिथ ने मूल्य के श्रम सिद्धान्त की बुनियाद भी रखी और यह उनका एक महान योगदान था जिसे मार्क्स ने भी पहचाना। वह पहले व्यक्ति थे जिन्होंने आम तौर पर इस बात को पहचाना कि समाज में पैदा होने वाले हर माल का विनिमय मूल्य या सापेक्षिक क़ीमत उसमें लगने वाले प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष श्रम से ही पैदा होती है। इसलिए रूप में उन्होंने पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की गतिकी की समझदारी को विकसित करने में निश्चित ही एक आधारभूत योगदान दिया, चाहे वह कितना ही अधूरा क्यों न हो और इस बात को मार्क्स ने अलग-अलग जगहों पर कई बार इंगित किया है। इसके अलावा, स्मिथ ने उत्पादक व अनुत्पादक श्रम, मुनाफ़े की दर के गिरने की प्रवृत्ति, भूमि-लगान आदि पर भी बहुत-कुछ लिखा, जिसके अपने सकारात्मक और नकारात्मक थे। इनका मार्क्स ने आलोचनात्मक विवेचन किया और सकारात्मकों को विकसित किया और नकारात्मकों को ख़ारिज किया। लेकिन हम यहाँ उनके विस्तार में नहीं जा सकते हैं। अभी हमारी दिलचस्पी इस बात में थी कि एडम स्मिथ का मूल्य का श्रम सिद्धान्त क्या था, उसकी उपलब्धि क्या थी और उसकी सीमाएँ क्या थीं।

डेविड रिकार्डो ने एडम स्मिथ के मूल्य के श्रम सिद्धान्त की कुछ समस्याओं को दूर किया हालाँकि वह भी मार्क्स के समान मूल्य के श्रम सिद्धान्त यानी मूल्य के नियम को वैज्ञानिक सम्पूर्णता में विकसित नहीं कर सके और बेशी मूल्य के सिद्धान्त तक नहीं पहुँच सके। लेकिन इसके बावजूद डेविड रिकार्डो ने वैज्ञानिक राजनीतिक अर्थशास्त्र को अपने समय के अनुसार शीर्ष पर पहुँचाया। इसीलिए मार्क्स रिकार्डो के सिद्धान्तों को सम्पूर्णता में बुर्जुआ राजनीतिक अर्थशास्त्र के शिखर के रूप में देखते थे, हालाँकि रिकार्डो के मूल्य के श्रम सिद्धान्त, व्यापार के सिद्धान्त और भू-लगान के सिद्धान्त की मार्क्स ने आलोचना की, उनकी कमियों और ग़लतियों को दूर किया। अगले अंक में हम संक्षेप में देखेंगे कि मूल्य के श्रम सिद्धान्त को डेविड रिकार्डो ने किस तरह से विकसित किया।

क्लासिकीय पेण्टिंग्स पर पर्यावरण कार्यकर्ताओं द्वारा हमला

सही सर्वहारा नज़रिया क्या हो?

● सनी

पिछले तीन महीनों में पर्यावरण कार्यकर्ताओं ने आम लोगों का ध्यान पर्यावरण समस्या की ओर खींचने के लिए चुनिन्दा क्लासिकीय चित्रों पर हमला किया है। लिओनार्डो दा विन्ची की मोनालिसा, वैन गॉग की सनफ़्लावर्स तथा मोने का एक चित्र भी निशाने पर आ चुका है। पर्यावरण कार्यकर्ता 'स्टॉप आयल' और 'लेट्ज़े जेनेरेन' नामक एनजीओ से जुड़े हैं जिन्होंने म्यूज़ियम में जाकर चित्रों पर टमाटर की चटनी फेंकने से लेकर स्याही फेंकने का तरीक़ा अपनाया है। इस कृत्य को सही ठहराते हुए उन्होंने कहा कि प्रकृति के चित्रों से अधिक ज़रूरी प्रकृति है तथा प्रकृति की तबाही की ओर ध्यान आकृष्ट करने के लिए ही वे ऐसे क़दम उठा रहे हैं। निश्चित ही, पर्यावरण का प्रश्न एक ज्वलन्त प्रश्न है और इस सवाल पर तत्काल कार्रवाई होनी चाहिए परन्तु यह कार्रवाई क्रान्तिकारी जनदिशा की रोशनी में ही की जानी चाहिए। यानी क्रान्तिकारी हिरावल को पर्यावरण के मसले पर सर्वहारा वर्ग और आम मेहनतकश जनता को पूँजीवादी व्यवस्था के ख़िलाफ़ संगठित करने की ओर अग्रसर होना चाहिए।

यह सच है कि म्यूज़ियम में मौजूद क्लासिकीय चित्र आज बड़ी पूँजी द्वारा सट्टेबाज़ी की मुद्रा के तौर पर इस्तेमाल होते हैं और हमें इन कलाकृतियों के माल बन जाने की प्रवृति पर चोट करनी होगी। परन्तु इसका अर्थ चित्रों पर ही हमला करना नहीं होता है। पर्यावरण कार्यकर्ताओं ने जीवाश्म ईंधन, मुख्यत: पेट्रोलियम उत्पाद के लिए होने वाली ड्रिलिंग को रोकने की माँग की ओर जनता और पश्चिमी यूरोप की सरकारों का ध्यान आकृष्ट करने के लिए इस 'रणकौशल' को ठीक बताया है। जीवाश्म तेल के लिए होने वाली ड्रिलिंग को रोकने के लिए क्लासिकीय चित्रों को बर्बाद करने की धमकी देने से तेल की ड्रिलिंग नहीं रुकेगी, भले ही तत्कालिक तौर पर सरकार कुछ-न-कुछ बयानबाज़ी करे। सोशल मीडिया पर कलाकृतियों पर हमले की आलोचना होने पर पर्यावरण कार्यकर्ताओं ने कहा कि इन हमलों में कलाकृतियों को वास्तविक नुक़सान नहीं हुआ है और यह महज़ चेतावनी है। इस कृत्य का समर्थन करते हुए "वामपन्थी" दायरे से कुछ लोगों ने यहाँ तक कहा कि वैन गॉग, विन्ची और मोने के चित्र बीते समाज के चित्र हैं और बुर्जुआ वर्ग अथवा सामन्ती वर्ग की कला के उदहारण हैं इसलिए ही इन हमलों को सही ठहराया जाना चाहिए। यह एक "वामपन्थी" अतिरेकवादी समझ है जिसके चलते लम्बे दौर में प्रकृति संरक्षण के मुद्दे से ही लोगों की दूरी बनेगी।

इन क्लासिकीय चित्रों पर आलू फेंकने, टमाटर की चटनी फेंकने या स्याही फेंकने पर सर्वहारा वर्ग का रुख़ क्या होगा? इस प्रश्न का जवाब हमें आम तौर पर वर्ग समाज के हज़ारों साल में बनी कलाकृतियों के प्रति सर्वहारा वर्ग का नज़रिया साफ़ करने का भी मौक़ा देता है।

पहली बात, वैन गॉग से लेकर विन्ची और मोने के क्लासिकीय चित्र मानवीय धरोहर हैं, बुर्जुआ वर्ग की जागीर नहीं। सर्वहारा वर्ग संस्कृति और कला, अतीत की समूची कला को नष्ट करके नये सिरे से नहीं पैदा करता है। बल्कि वह अतीत की विरासत के ढाँचे पर इसे खड़ा करता है। अतीत की कला के उन प्रगतिशील तत्वों को वह अपनाता है जो मानवीय सारतत्व का प्रतिनिधित्व करते हैं। सोवियत रूस में भी कला के सवाल पर ऐसी ही बहस उठा खड़ी हुई थी जहाँ **प्रोलेतकुल्त** नामक "वामपन्थी" राजनीतिक धारा समाजवाद के पहले तक के मानवीय समाज में पैदा हुई कलाकृतियों को वर्ग समाज का उत्पाद बताकर नकार रही थी और इसके बरक्स भविष्य के स्वप्नों को नये सिरे से कला में गढ़ने का नारा दे रही थी। लेनिन ने इस बहस में सही सर्वहारा संस्कृति से पक्ष लेते हुए बताया कि मज़दूर वर्ग पुराने वर्ग समाज की समूची संस्कृति को नकारता नहीं है। वे इसे बिम्ब से समझाते हैं कि मज़दूर राज अतीत की संस्कृति के पत्थरों को चुनकर अपने भवन का निर्माण करता है। लेनिन कहते हैं कि :

"मानव-जाति के पूरे विकास ने जो संस्कृति पैदा की है उसकी सूक्ष्म जानकारी तथा उसके रूपान्तरण के आधार पर ही हम एक सर्वहारा संस्कृति का निर्माण कर सकेंगे। सर्वहारा संस्कृति ऐसी वस्तु नहीं है जो शून्य से पैदा हो गयी हो, वह उन लोगों का आविष्कार नहीं है जो अपने को सर्वहारा संस्कृति का विशेषज्ञ बताते हैं। ये सब मूर्खता की बातें हैं। पूँजीवादी, सामन्ती तथा नौकरशाही समाज के जुए के नीचे रहते हुए मानव-जाति ने जो ज्ञान राशि संचित की है, सर्वहारा संस्कृति अनिवार्य रूप से उसी का तार्किक विकास होगी। जिस तरह मार्क्स द्वारा पुनर्रचित राजनीतिक अर्थशास्त्र ने हमें यह बतलाया कि मानव समाज अनिवार्य रूप से कहाँ पहुँचेगा, वर्ग संघर्ष की तरफ़, सर्वहारा क्रान्ति की शुरूआत की तरफ़ वह कैसे बढ़ेगा, उसी तरह यह तमाम रास्ते भी सर्वहारा क्रान्ति की दिशा में बढ़ते आये हैं और बढ़ते जायेंगे।"

आगे फिर लेनिन दोहराते हैं :

"पूँजीवादी युग की मूल्यवान उपलब्धियों को ठुकराने की बजाय उसने इसके विपरीत, उस प्रत्येक मूल्यवान वस्तु को जो मानवीय चिन्तन तथा संस्कृति के दो हज़ार से अधिक वर्षों के विकास के दौरान उत्पन्न हुई है, अपना लिया है और उसे नया रूप प्रदान किया है। सच्ची सर्वहारा संस्कृति के विकास का कार्य केवल उस कार्य को ही माना जा सकता है, जो सब प्रकार के शोषण के विरुद्ध संघर्ष की अन्तिम मंज़िल के रूप में, सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की स्थापना के व्यावहारिक अनुभव से प्रेरणा लेकर इसी समझदारी के आधार पर और इसी दिशा में आगे किया जाता है।"

लेनिन का सर्वहारा संस्कृति के प्रति नज़रिया पूँजीवादी युग तथा वर्ग समाज के अतीत की मूल्यवान उपलब्धियों की विरासत को स्वीकार करता है न कि उसे ठुकरा देता है। पुनर्जागरण काल के विन्ची उस प्रगतिशील क्रान्ति के महामानव थे जो चिन्तन शक्ति, आवेग एवं चरित्र में भी महामानव थे। इस विरोध प्रदर्शन में विन्ची का एक चित्र भी निशाने पर आया है। वैन गॉग के चित्र जीवन की जद्दोजहद और प्रकृति को रंगों को उकेरते हैं। मज़दूरों, निचलों और ग़रीबों के जीवन और प्रकृति को स्टूडियो से बाहर निकालकर विविध चित्र उकेरते हैं। मोने भी इम्प्रेशनिज़्म के दौर में प्रकृति को रंगों और रोशनी के अन्तर्गुन्थन में उकेरते हैं। यथार्थ का यह चित्रण आज हमारे लिए अधूरा है परन्तु यथार्थ का हमारा आज का चित्रण इन कलाकर्मों के मूल्यांकन पर ही आगे खड़ा होता है।

दूसरी बात, यह तर्क कि 'प्रकृति', 'प्रकृति की तस्वीरों' से अधिक महत्वपूर्ण है, तुलनात्मक तर्क पद्धति है और ग़लत है। प्रकृति अधिक महत्वपूर्ण है, यह बोध ही हमें ज्ञान, संस्कृति और हमारी कलाकृतियाँ देता है। मानवीय सारतत्व बनाम प्रकृति यानी क्लासिकीय चित्रों बनाम प्रकृति को एक दूसरे के विरोध में रखना ही मूर्खतापूर्ण है। मुख्य सवाल पर्यावरण को बचाये जाने के लिए आम जन के आह्वान का होना चाहिए। यह भी ग़ौर करने वाली बात है कि इसमें कला की भूमिका होगी। परन्तु "वामपन्थी" अतिवाद के छोर पर खड़े कुछ लोग आम मेहनतकश जन को जागृत करने के कार्यभार से मुँह मोड़कर ऐसे अतिरेकी कृत्यों का समर्थन करते हैं। इस तरह के कृत्य हमेशा ही क्रान्तिकारी आन्दोलन के लिए नुक़सानदायक होते हैं और हमें सर्वहारा संस्कृति से पथभ्रष्ट करते हैं।

तीसरी बात, अगर हम यह मान लें कि कोई विशिष्ट कलाकृति प्रतिगामी बुर्जुआ विचारधारा का प्रतिनिधित्व करती है तो भी उनपर हमला करना नुक़सानदायक होगा। इस क़िस्म की भंजन की कार्रवाई किसी भी तरह आम जनता के मन से बुर्जुआ वर्ग के विचारों को मिटा नहीं सकती है। न ही मूर्ति भंजन या चित्र भंजन की ये घटनाएँ किसी भी तरह से आम जनता को बुर्जुआ कला से दूर करती हैं। वास्तव में, बुर्जुआ विचारधारा के प्रतिगामी विचारों की नुमाइन्दगी करने वाली कलाकृतियों पर भी सर्वहारा वर्ग को बहस-मुबाहिसा करना चाहिए और उसकी वर्ग अन्तर्वस्तु को व्यापक जनता के समक्ष उजागर करना चाहिए। किसी भयंकर वर्गयुद्ध के दौरान एक लहर में प्रतिक्रिया के प्रतीकों का नष्ट किया जाना युद्ध की कार्रवाई होता है। लेकिन आम तौर पर इस प्रकार का भंजन एक ग़ैर-द्वन्द्वात्मक क़दम होता है। अतीत की कलात्मक विरासत को मृत प्रगतिशील प्रतीकों का म्यूज़ियम नहीं बनाया जा सकता है, बल्कि उसे भी वर्ग संघर्ष और राजनीतिक व विचारधारात्मक संघर्ष को परावर्तित करना चाहिए। ज़ाहिरा तौर पर, सर्वहारा वर्ग सत्ता में आने पर प्राचीन रोम और यूनान, या बैजन्तियाई साम्राज्य की सारी कलाकृतियों व इमारतों को नष्ट नहीं कर देगा। ऐसे में, नयी पीढ़ी के पास कभी कोई इतिहासबोध ही नहीं होगा और विचारों के मामले में वह भयंकर रूप से दरिद्र होगी।भाकपा (माले) की पार्टी कांग्रेस (मई 1970) के बाद छात्रों-युवाओं के 'ऐक्शन-स्क्वाडों' ने बुर्जुआ राष्ट्रीय नेताओं की मूर्तियाँ तोड़ने का सिलसिला शुरू किया जो लुड्डाइट एक्शन सरीखा था जिसे "सांस्कृतिक क्रान्ति" कहा गया। यह तथाकथित सांस्कृतिक क्रान्ति दरअसल भंजन-दहन-हनन समारोह ही था। दीपायन बोस इसकी विवेचना करते हैं : "...इस "सांस्कृतिक क्रान्ति" ने इतिहास और विरासत के प्रति एक अतिरेकी, एकांगी और अनैतिहासिक रवैया अपनाया। शुरू में तो भाकपा (मा-ले) नेतृत्व ने इस नये घटना-विकास के प्रति असम्पृक्त रुख़ अपनाया, लेकिन जब यह लहर पूरे कलकत्ता में फैल गयी तो चारु मजुमदार ने देहातों में किसान उभार की एक स्वाभाविक परिणति बताते हुए इसका पुरज़ोर समर्थन किया। गाँधी और अन्य बुर्जुआ नेताओं की मूर्तियाँ तोड़े जाने को "मूर्ति भंजन का उत्सव" घोषित करते हुए उन्होंने लिखा कि छात्रों ने औपनिवेशिक शिक्षा व्यवस्था पर हमला बोल दिया है, क्योंकि वे समझ चुके हैं कि उसे नष्ट किये बिना तथा दलाल पूँजीपति वर्ग द्वारा खड़ी की गयी प्रतिमाओं को ध्वस्त किये बिना क्रान्तिकारी शिक्षा व्यवस्था और संस्कृति का निर्माण सम्भव नहीं..." (नक्सलबाड़ी और उत्तरवर्ती दशक : एक सिंहावलोकन (दूसरी क़िस्त), दिशा सन्धान-3, अक्टूबर-दिसम्बर 2015)

इस दौरान गाँधी से लेकर विद्या सागर, टैगोर, राजा राम मोहन राय आदि की मूर्तियों पर हमला किया गया। दीपायन बोस इसे "वामपन्थी" अतिपन्थ क़रार देते हैं और आलोचना करते हुए लिखते हैं कि :

"मूर्तिभंजन किसी भी सूरत में ग़लत था क्योंकि मूर्तियाँ तोड़ने और तस्वीरें जलाने से जनमानस में अंकित किसी व्यक्ति की छवि को क़तई नहीं मिटाया जा सकता। इसके लिए विचारधारात्मक कार्य की लम्बी प्रक्रिया अनिवार्य होती है। माओ त्से-तुङ ने 'हुनान किसान आन्दोलन की जाँच-पड़ताल रिपोर्ट' में यह स्पष्ट कहा था कि "जो किसान अपने हाथों से मूर्तियाँ बनाते हैं, वे ही समय आने पर अपने ही हाथों से उन्हें किनारे हटा देंगे, अतः वक़्त से पहले किसी को यह काम करने की ज़रूरत नहीं है। कम्युनिस्ट पार्टी जन समुदाय की राजनीतिक चेतना को ऊपर उठाने का काम करती है, और मूर्तिपूजा, अन्य अन्धविश्वासों और मिथ्या धारणाओं से छुटकारा पाने की ज़िम्मेदारी लोगों पर छोड़ देती है।" ज़ाहिर है कि लोगों की राजनीतिक चेतना का स्तर उठाये बिना और पर्याप्त विचारधारात्मक कार्य किये बिना ऐसे लोगों की मूर्तियाँ तोड़ना, जो घर-घर के जाने-पहचाने नाम थे, एक अतिवादी कार्रवाई थी।" (नक्सलबाड़ी और उत्तरवर्ती दशक : एक सिंहावलोकन (तीसरी क़िस्त), दिशा सन्धान–4, जनवरी-मार्च 2017)

अतः यह साफ़ है कि पर्यावरण कार्यकर्ताओं द्वारा रणकौशल के नाम पर की जा रही ये गतिविधियाँ किसी भी तरह से सही नहीं ठहरायी जा सकती हैं। वहीं मोने, वैन गॉग और विन्ची के चित्र तो सर्वहारा वर्ग की विरासत हैं। अमुक कार्रवाई कार्यकर्ताओं के मक़सद को भी नुक़सान पहुँचाती है। हम अतीत से विमुख होकर इतिहास नहीं बदल सकते हैं। अबू तालिब ने सही ही चेताया है, 'यदि तुम इतिहास पर पिस्तौल से गोली चलाओगे तो भविष्य तुम पर तोप से गोले बरसायेगा।' आज हम जिस युग में खड़े हैं वहाँ बुर्जुआ वर्ग द्वारा सर्वहारा वर्ग की स्मृतियों पर और उसकी ऐतिहासिक विरासत पर हमला निरन्तर जारी है। सर्वहारा क्रान्तियों और सिद्धान्तों को धूल और राख़ की परत के नीचे दबा दिया गया है। मज़दूर वर्ग के विज्ञान मार्क्सवाद के साथ ही आधुनिकता की सभी प्रगतिशील अवधारणाओं पर हमला किया जा रहा है। नयी समाजवादी क्रान्ति की कार्यदिशा के तहत हमें न सिर्फ़ सर्वहारा वर्ग के प्रयोगों और उसके सिद्धान्तों पर किये जा रहे हमलों का जवाब देना होगा बल्कि मानव इतिहास की प्रगतिशील परम्परा की भी रक्षा करनी होगी। यह सर्वहारा पुनर्जागरण और सर्वहारा प्रबोधन का कार्यभार है जिसे अंजाम दिये बिना 21वीं सदी की नयी समाजवादी क्रान्तियों को अंजाम नहीं दिया जा सकता है।

लेनिन और सल्वादोर में क्रान्ति

• रोके दाल्तोन

मेरे लोगो :
उसके जन्म के सौ साल बाद
और शरीर से मरने के 50 साल बाद
उसकी ज़िन्दगी और विचारों को छुपाने की
उन्होंने भरपूर कोशिश की है।

तुम्हें यह सोचने को मजबूर किया कि दुनिया बस इस छोटे से
देश की सरहदों के भीतर ही समाप्त हो जाती है

और तुम्हें कहते हैं कि कचोटते दुःख दर्द
के साथ जीना ही एकमात्र जीना है

फिर तुमसे यह छुपाते हैं कि
दुनिया आगे बढ़ी है वसन्त के लिए संघर्ष करते।

तुमसे यह भी छुपाते हैं कि ग़रीब, मज़लूम, तुम्हारे अपने भाई
आगे बढ़ रहे हैं;
इसके अलावा छुपाते हैं कि तुम्हारे भाइयों ने
जीत हासिल कर ली है
पैसे वाले रईसों पर जो दुबारा अपनी लुटी दुनिया
हासिल नहीं कर पायेंगे;
लेनिन के शब्दों में तुम्हारी विरासत है,
यह विरासत सिखाएगी कि जीत हासिल करने के लिए
लड़ें कैसे।

हम कम्युनिस्ट रहेंगे क्योंकि हम देशप्रेमी हैं;
हमारे देश में नहीं समाप्त होती दुनिया
बल्कि इस दुनिया में है हमारा देश :

सल्वादोरवासियों के तौर पर
लेनिन और फराबुन्दो मार्ती के झण्डे तले
ज़ंजीरों को तोड़ते हुए हम अपने इस छोटे देश से आगे बढ़ेंगे।

(लेनिन के लिए लाल किताब)
मूल स्पेनी भाषा से अनुवाद : **लता**

रोके दाल्तोन, अल सल्वाडोर के कवि, निबन्धकार, पत्रकार और कम्युनिस्ट कार्यकर्ता थे। सिर्फ़ 40 वर्ष की उम्र में उनकी हत्या कर दी गयी थी। उन्हें लातिनी अमेरिका के सबसे प्रभावशाली कवियों में गिना जाता है।

‘इण्टरनेशनल’ के रचयिता के 135वें स्मृति दिवस पर

लेनिन का लेख

यूजीन पोतिए : उनकी पच्चीसवीं बरसी के अवसर पर

पिछले साल, 1912 के नवम्बर में, फ़्रांसीसी मज़दूर कवि, सर्वहारा वर्ग के प्रसिद्ध गीत, “इण्टरनेशनल” (“उठ जाग, ओ भूखे बन्दी,” आदि) के लेखक यूजीन पोतिए की मृत्यु को हुए पच्चीस वर्ष पूरे हो गये। (उनकी मृत्यु 1887 में हुई थी।)

उनके इस गीत का सभी यूरोपीय तथा अन्य भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। कोई भी वर्ग चेतन मज़दूर चाहे जिस देश में वह पहुँच जाये, क़िस्मत उसे चाहे जहाँ ढकेलकर ले जाये, भाषा-विहीन, नेत्र-विहीन, अपने देश से दूर कहीं वह चाहे जितना अजनबी महसूस करे – “इण्टरनेशनल” (मज़दूरों के अन्तर्राष्ट्रीय गीत) की परिचित टेकों के माध्यम से वह वहाँ अपने लिए साथी और मित्र ढूँढ़ सकता है।

तमाम देशों के मज़दूरों ने अपने सर्वप्रमुख योद्धा, सर्वहारा कवि के इस गीत को अपना लिया है और उसे सर्वहारा वर्ग का विश्वव्यापी गीत बना दिया है।

और, इसलिए आज सभी देशों के मज़दूर यूजीन पोतिए की स्मृति का सम्मान करते हैं। उनकी पत्नी और पुत्री जीवित हैं और जिस तरह इण्टरनेशनल के लेखक ने अपना सारा जीवन ग़रीबी में बिताया था, उसी तरह वे भी ग़रीबी में रह रही हैं। यूजीन पातिये का जन्म 4 अक्टूबर 1816 को पेरिस में हुआ था। जब उन्होंने अपना पहला गीत लिखा तब उनकी उम्र चौदह वर्ष की थी। उस गीत का शीर्षक था : “स्वतंत्रता चिरजीवी हो!” 1848 में पूँजीपति वर्ग के साथ मज़दूरों की जब वह महान लड़ाई छिड़ी तब एक योद्धा के रूप में वह बैरीकेडों पर मौजूद थे।

पोतिए का जन्म एक ग़रीब परिवार में हुआ था और अपना सारा जीवन वह एक सर्वहारा ही बने रहे। अपनी रोटी कमाने के लिए एक पैकर के रूप में वह काम करते थे। बाद में वह कपड़ों पर नमूनों को उतारने का काम करने लगे थे।

1848 के बाद से फ़्रांस के जीवन में जितनी भी बड़ी घटनाएँ घटीं, उनका साथ पोतिए ने अपने जुझारू गीतों से दिया था। अपने इन गीतों के द्वारा पिछड़े हुए लोगों की चेतना को उन्होंने जागृत किया था, मज़दूरों का एकताबद्ध होने के लिए आह्वान किया था, और फ़्रांस के पूँजीपति वर्ग और उसकी पूँजीवादी सरकारों की खिल्ली उन्होंने उड़ाई थी।

महान पेरिस कम्यून (1871) के दिनों में वह उनके एक सदस्य चुने गये थे। चुनाव में जो छत्तीस सौ मत पड़े थे उनमें से उन्हें तैंतीस सौ बावन मिले थे। कम्यून की, सर्वहारा वर्ग की उस प्रथम सरकार की सभी गतिविधियों में उन्होंने भाग लिया था।

कम्यून के पतन के बाद पोतिए को इंग्लैंड और बाद में अमेरिका भाग जाना पड़ा। उनके प्रसिद्ध गीत ‘इण्टरनेशनल” की रचना जून 1871 में, आप कह सकते हैं कि मई की रक्तरंजित पराजय के अगले दिन हुई थी।

कम्यून को कुचल दिया गया किन्तु पोतिए के “इण्टरनेशनल” ने उनके विचारों को पूरे संसार में फैला दिया है और आज वह पहले कभी से भी अधिक ज़िन्दा हैं।

1876 में, देश से निष्कासित अवस्था में पोतिए ने एक कविता लिखी थी, “अमेरिका के मेहनतकशों का फ़्रांस के मेहनतकशों के नाम सन्देश”। इसमें उन्होंने बताया था कि पूँजीवाद के जुवे के नीचे मज़दूरों का जीवन कैसा होता है। उन्होंने उसमें उनकी ग़रीबी, उनकी कमरतोड़ मेहनत, उनके शोषण, और अपने लक्ष्य की भावी विजय के प्रति उनके दृढ़ विश्वास का विवरण प्रस्तुत किया था।

कम्यून के नौ वर्ष बाद पोतिए फ़्रांस लौट आये थे। वहाँ तुरन्त वह मज़दूरों की पार्टी में शामिल हो गये थे। उनकी कविताओं का प्रथम खण्ड 1884 में प्रकाशित हुआ था और “क्रान्तिकारी गीत” के शीर्षक से उनकी रचनाओं का दूसरा खण्ड 1887 में छपा था।

मज़दूर कवि द्वारा रचे गये अनेक दूसरे गीत उनकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुए।

8 नवम्बर 1887 को पेरिस के मज़दूर यूजीन पोतिए के अवशेषों को पेरे लाशेज की उसी क़ब्रिस्तान में दफ़नाने के लिए ले गये थे, जिसमें उन कम्यूनार्डों (कम्यून के वीरों) के शेषांशों को दफ़न किया गया था, जिनकी हत्या की गयी थी। शव-यात्रा से लाल झण्डे को छीन लेने की कोशिश में पुलिस ने भीड़ पर बर्बर हमला किया। उनकी शव-यात्रा में नगर के विशाल जनसमुदाय ने भाग लिया। सभी दिशाओं से “पोतिए चिरजीवी हों!” के नारे गूँज रहे थे।

पोतिए ग़रीबी की हालत में मरे। किन्तु, वह एक ऐसा स्मारक छोड़ गये हैं, जो वास्तव में मनुष्य द्वारा रची गयी किसी भी चीज़ से अधिक स्थायी है। गीतों के माध्यम से प्रचार करने वाले महानतम लोगों में से एक वह थे। जिस समय उन्होंने अपना पहला गीत रचा था, उस समय मज़दूर समाजवादियों की संख्या अधिक से अधिक दसियों में गिनी जाती थी। अब यूजीन पोतिए के ऐतिहासिक गीत को करोड़ों मज़दूर जानते हैं।

प्रावदा, अंक 2,
सम्पूर्ण ग्रन्थावली, खण्ड 36, पृष्ठ 223-224
3 जनवरी, 1913

25 अक्टूबर 1917*

(प्रसिद्ध कविता 'व्लादिमीर इलिच लेनिन' का एक अंश)

• व्लादिमीर मायकोवस्की

जब भविष्य से
पीछे मुड़
देखेंगे इस दिन को,
सर्वप्रथम,
लेनिन की आकृति उभरेगी,
जिन्होंने चाहत और अध्यवसाय से
पथ अवलोकित किया
ग़ुलामी की सहस्राब्दियों से
कम्यून के युग का।

वंचना के ये वर्ष
अतीत में धँस जायेंगे,
और कम्यून का ग्रीष्म
हमारी धरती को ताप देगा।
और ख़ुशी का वह
विशाल मीठा फल,
पक जायेगा
अक्टूबर के सुर्ख़ लाल फूल से।

और जब पाठक लेनिन के आदेशों को,
पीले पड़े पन्नों पर ग़ौर से पढ़ेंगे,
वे अपने सीने में एक गर्म ज्वार उठता पायेंगे,
उनकी आँखों में गर्म आँसू होंगे,
वह अहसास जिसे वे भुला चुके थे।

जब मैं अपने जीवन के महानतम दिन को
तलाशता हूँ,
उस सब में से जो भी
मैंने जिया और मैंने देखा है,
बिना शक़ और बिना द्वन्द्व के कहता हूँ :
25 अक्टूबर 1917।

स्मोल्नी उत्साह से थरथराता है,
नाविकों के बदन पर लटके बम तीतर की
तरह लगते हैं,
संगीनें बिजली की आड़ी-तिरछी लकीरों की
तरह चमकती हैं,
नीचे खड़े हैं मशीन-गनर कारतूसों की बेल्ट बाँधे,
गलियारों में कोई निरुद्देश्य चहलक़दमी नहीं,
बम और पिस्तौल सँभाले कोई नौसिखिया नहीं।
"कामरेड स्तालिन तुमसे मिलना चाहते हैं,
यह आदेश है :
बख़्तरबन्द गाड़ियाँ मुख्य पोस्ट ऑफ़िस पर"
"कामरेड त्रॉत्स्की का निर्देश",
"ठीक है" कहकर वह आगे बढ़ा,
और उसके
नौसेना के रिबन पर लिखे ये शब्द चमकते हैं :
"अव्रोरा";
कोई सन्देश लेकर दौड़ता है,
तो कुछ बहस करते हैं,
तो कुछ राइफ़ल के बोल्ट को चटकाते हैं,
कोई भी दो व्यक्ति एक जैसे नहीं दीखते।

महानता या शान की छाया
बिना ध्यान में आये तेज़ी से लेनिन प्रवेश करते हैं,
युद्ध में लेनिन के नेतृत्व में काम करने वाले लोग
उन्हें अभी चित्रों में अंकित लेनिन के रूप में
नहीं जानते;
हाथों का मिलना, छेड़खानी, हँसी-मज़ाक़
और कुछ प्रतिज्ञाओं के बाद
यह बेतक़ल्लुफ़-सी मुलाक़ात सम्पन्न हुई।

इस दीर्घ-प्रतीक्षित-लौह-झंझावात के बीच
थकन से जकड़े प्रतीत होते हैं लेनिन,
पर वे कमर के पीछे हाथ बाँधे,
तेज़ी से चलते, रुकते,
बहु-रंगीय दृश्य में अपनी आँखें गड़ाये हैं।

मैंने देखा उनकी तीक्ष्ण नज़रों को
पैरों में पट्टी बाँधे खड़े सैनिक को भेदते हुए,
अचूक निशानदेही
उस्तरे-सी तीखी नज़र,
सार को ऐसे जकड़ती जैसे सँडसी,
आत्मा को शब्दों और वाक्यों में से भींच लेती।

और मुझे पता था कि
इस नज़र के सामने
हर वह चीज़ खुल जाती और साफ़ हो जाती,
जिसपर भी यह जाकर टिकती थी;
जहाज़ के बढ़ई कहाँ खड़े हैं,
और कहाँ खड़े हैं खान-मज़दूर,
क्या चाहते हैं किसान और मज़दूर,
हर नस्ल को अपनी नज़र में रखा उन्होंने,
रातभर में अपने मस्तिष्क में
पूरी धरती के भार को मापा,
और सुबह :
"सभी को, हर किसी को
अमीर के ग़ुलाम जो एक दुसरे को गढ़ते हैं
हम इस घड़ी तुम्हारा आह्वान करते हैं :
सारी सत्ता सोवियतों की,
भूखों को रोटी,
किसानों को ज़मीन,
जनता और युद्धरत सेना को शान्ति",
सैनिकों का ख़ून पीने में मशग़ूल
बुर्जुआ वर्ग यह सुन किकिया पड़ा,
"डुखोविन और कोरिलोव को
फ़ौरन तैयार करो,
दिखाओ कि कौन कौन है और क्या क्या है!
गुचकोव और केरेंस्की!"
पर अगले और पिछले ने एक भी गोली
चलाये बिना,
हथियार डाल दिये,
जैसे ही आज्ञप्ति पारित हुई,
उनपर अग्निवर्षा की तरह।

आज हम जानते हैं कि
किसने दिखाया कि :
"कौन कौन है और क्या क्या है!"
निरक्षर लोगों के दिलों में भी,
स्टील के जिस निश्चय को गढ़ा,
वह क़रीब से दूर तक लुढ़कता गया,
एक फुसफुसाहट से गर्जन में तब्दील हुआ :
"निचलों, ग़रीबों और झोपड़ियों
के लिए शान्ति!
युद्ध, महलों पर!
युद्ध, युद्ध, युद्ध!"
हम लड़े, बड़ी से लेकर छोटी फ़ैक्टरी तक,
उन्हें शहरों से मटर की तरह उखाड़ फेंक दिया,
अक्टूबर की ज्वाला ने,
जले महलों को
अपनी जीत के क़दमों को मापने के लिए
मील के पत्थर के रूप में छोड़ दिया।

उस ज़मीन को, जो पहले
थोक में पड़ने वाले कोड़ों की क़ालीन थी,
अचानक सख़्त हाथों ने समेटा,
नहरों, पहाड़ों और अन्य सम्पदा के साथ,
कसकर थाम लिया
ख़ून में भीगी इस भूमि को।

सफ़ेद क़मीज़पोशों और चश्मों से झाँकते चेहरों ने
हमारे इस कृत्य पर थूका,
और भाग खड़े हुए वहाँ,
जहाँ आज भी राजशाही और सल्तनत थी;
बला टली!
हम हर बावर्चिन को सिखाएँगे
ताकि वह चला सके देश, मज़दूरों के हित में।

* 25 अक्टूबर – पुराने रूसी कैलेण्डर के अनुसार क्रान्ति शुरू होने का दिन)

(अनुवाद : **सनी**)

डाक पंजीयन : SSP/LW/NP-319/2020-2022
प्रेषण डाकघर : आर.एम.एस, चारबाग़, लखनऊ
प्रेषण तिथि : दिनांक 5, प्रत्येक माह

इंग्लैण्ड का नया दक्षिणपन्थी प्रधानमंत्री ऋषि सुनक और बेगानी शादी में दीवाने देश-विदेश के भारतीय मूर्ख दक्षिणपन्थी अण्डभक्त

● सुहास

दुनिया के सारे खाते-पीते मध्यवर्गों में से यदि सबसे मूर्ख खाते-पीते मध्यवर्ग के ख़िताब के लिए कोई टूर्नामेण्ट हो, तो सम्भवत: भारत का खाता-पीता मध्यवर्ग ही उसमें स्वर्ण पदक प्राप्त करेगा। साथ ही, दुनिया के सबसे प्रतिक्रियावादी खाते-पीते मध्यवर्ग के लिए भी यदि कोई अन्तरराष्ट्रीय मुक़ाबला हो तो उसमें भी भारत का खाता-पीता मध्यवर्ग पहले पायदान पर ही आयेगा। *इसके भीतर मज़दूर वर्ग और आम मेहनतकश आबादी के प्रति जो नफ़रत और एक पाशविक हद तक आक्रामक क़िस्म की अधिकार-सम्पन्नता, जनवादी सोच का अभाव, वर्गीय श्रेष्ठताबोध और सामाजिक डार्विनवाद की सोच है, वह अभूतपूर्व है। कई बार उसकी यह प्रतिक्रियवादी सोच ग़रीबों के प्रति रहम और भीख देने के रूप में भी सामने आ सकती है। इससे धोखा मत खाइएगा। वे हमें अपने बराबर नहीं बल्कि हीन समझते हैं और ख़ुद को हमसे श्रेष्ठ, लगभग-लगभग एक अलग प्रजाति का मानते हैं।* विशेष तौर पर, आप्रवासी भारतीय खाता-पीता मध्य व उच्च वर्ग तो इसमें एक मिसाल है। चूँकि यह मूर्खता के मामले में भी अव्वल है इसलिए अपने दक्षिणपन्थी प्रतिक्रियावाद का परिचय भी यह आये-दिन देता ही रहता है।

अभी जब इंग्लैण्ड में घोर मज़दूर-विरोधी, धुर-दक्षिणपन्थी कंज़रवेटिव पार्टी का भारतीय मूल का ब्रिटिश कुलीनवादी, धनपशु ऋषि सुनक लिज़ ट्रस नामक एक अन्य दक्षिणपन्थी नेत्री को हटाकर इंग्लैण्ड का प्रधानमंत्री बना तो देश-विदेश में रहने वाले सारे खाते-पीते उच्च व उच्च मध्यवर्गीय भारतीय हर्षोन्माद में ऐसे बौरा गये मानो भारत ने इंग्लैण्ड से दो सौ साल की ग़ुलामी का बदला लेते हुए इंग्लैण्ड को अपना उपनिवेश बना लिया हो!

ऋषि सुनक के बारे में थोड़ा जान लेते हैं। पहली बात तो यह है कि ऋषि सुनक भारतीय नहीं बल्कि ब्रिटिश नागरिक है। न सिर्फ़ वह ख़ुद इंग्लैण्ड में पैदा हुआ था, बल्कि उसके माता-पिता भी भारत में नहीं पैदा हुए थे। उसके दादा पूर्वी अफ़्रीका से 1960 के दशक में इंग्लैण्ड आये थे और मूलत: वह वर्तमान पाकिस्तान के गुजराँवाला से आये थे (वैसे तो अण्डभक्तों को यह भी मानना चाहिए कि सुनक भारतीय नहीं बल्कि पाकिस्तानी है!)। वह केवल भारतीय मूल का है। लेकिन वह हर तरह से एक ब्रिटिश नागरिक है। अब सारे ब्रिटिश नागरिकों से तो हमारा कोई बैर है नहीं! लेकिन ऋषि सुनक कोई आम ब्रिटिश नागरिक भी नहीं है। वह इंग्लैण्ड का सबसे धनी सांसद है। 2015 में ब्रिटिश संसद में प्रवेश से पहले वह गोल्डमैन सैक्स नामक एक निवेश बैंक के लिए काम करता था और हेज फ़ण्ड नामक वित्तीय उपकरण में उसकी विशेषज्ञता है। हेज फ़ण्ड जनता से लूटे धन को सट्टेबाज़ी के ज़रिए अपनी जेब के हवाले करने का सबसे सुरक्षित और भ्रष्ट तरीक़ा है। ऋषि सुनक इंग्लैण्ड का एक बड़ा पूँजीपति है और कई बड़ी कम्पनियों में उसके हिस्से हैं। उसकी शादी भारत के एक बड़े पूँजीपति नारायण मूर्ति की बेटी से हुई है। मतलब, पूरा परिवार ही पूँजीपति वर्ग के सामाजिक मूल से आता है।

ऋषि सुनक इंग्लैण्ड के सबसे महँगे स्कूल और कॉलेज में पढ़ चुका है, जिसकी फ़ीस सुनकर आपको चक्कर भी आ सकता है। पहले वह इंग्लैण्ड के सबसे अमीर और कुलीन स्कूल विनचेस्टर में पढ़ा और उसके बाद उसने उच्चतर शिक्षा ऑक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालय से प्राप्त की, जो इंग्लैण्ड का सबसे कुलीन विश्वविद्यालय है। 11 साल की उम्र तक वह ओकमाउण्ट प्रेपरेटरी स्कूल में पढ़ा और फिर स्ट्राउड इण्डिपेण्डेण्ट प्रेप स्कूल में पढ़ा, जिसकी फ़ीस आज 18 लाख रुपये प्रति वर्ष है! उसके बाद वह किंग एडवर्ड VI स्कूल में पढ़ा जिसकी फ़ीस आज क़रीब 17 लाख है। और उसके बाद वह विनचेस्टर कॉलेज में पढ़ा जिसकी फ़ीस आज 42 लाख रुपये प्रति वर्ष है। ज़ाहिर है, उसके राजनीतिक विचार इसी कुलीन माहौल में बने। **ऋषि सुनक इंग्लैण्ड की भूतपूर्व प्रधानमंत्री मार्गरेट थैचर का अनुयायी और प्रशंसक है, जिसकी विचारधारा थैचरवाद का मूल यह था कि मज़दूरों से सारे श्रम अधिकार छीन लो, पूँजीपतियों को मुनाफ़ा कमाने की पूरी छूट दो, यूनियन बनाने के अधिकार छीन लो और अमीरज़ादों को देश की अर्थव्यवस्था और समाज पर पूरा नियंत्रण दे दो।** आर्थिक नीतियों और कट्टरपन्थ के मामले में मार्गरेट थैचर का कोई सानी नहीं था और आज भी इंग्लैण्ड का मज़दूर उसका नाम सुनकर ही थूक पड़ता है। लेकिन सुनक थैचर का नाम सुनकर आदर की पावन भावनाओं में डूब जाता है क्योंकि उसका भी यही मानना है कि पूँजीपतियों की मुनाफ़े की हवस में कोई रोक-टोक नहीं होनी चाहिए।

सुनक 2015 में इंग्लैण्ड की सबसे मज़दूर-विरोधी और पूँजी-परस्त पार्टी, यानी कंज़रवेटिव पार्टी से ब्रिटिश संसद का सदस्य चुना गया। 2020 में वह इंग्लैण्ड के एक्सचेकर यानी राजकोष का चांसलर चुना गया। अब देखें कि सुनक महोदय ने चांसलर बनने के बाद तत्काल ही क्या कारनामे दिखाये। सबसे पहले तो कोविड के दौर में ही इंग्लैण्ड की ग़रीब आबादी को प्रति सप्ताह 20 पाउण्ड का यूनिवर्सल क्रेडिट मुहैया कराने की योजना को उसने बन्द कर दिया। जोसेफ़ राउनट्री फ़ाउण्डेशन के एक आकलन के अनुसार इसकी वजह से क़रीब 2 लाख ग़रीब अंग्रेज़ मेहनतकश ग़रीबी में धकेल दिये गये। और *उसी सप्ताह* ऋषि सुनक ने अपने और अपनी पत्नी अक्षता मूर्ति के यॉर्कशायर स्थित निजी महल के लिए निजी स्विमिंग पूल, जिम और टेनिस कोर्ट बनाने के लिए योजना को स्वीकृत कराने की पहल शुरू की। ज्ञात हो कि इस महल को सुनक और उसकी पत्नी ने लगभग 15 करोड़ रुपये में 2015 में ख़रीदा था। **यानी, अपने लिए निजी सुविधाएँ और महल और ग़रीबों को मिलने वाली सहायता रद्द!** इस महल के अलावा सुनक के पास पश्चिमी लन्दन के केंसिंगटन में भी एक 7 करोड़ रुपये का पाँच बेडरूम का फ़्लैट है। इंग्लैण्ड में ग़रीबों को लूटकर सम्पत्ति संचित करने से ऋषि सुनक जब थक गये तो उन्होंने अमेरिका के कैलीफ़ोर्निया प्रान्त के सैण्टा मॉनिका में भी एक फ़्लैट ख़रीद लिया।

इसके अलावा ऋषि सुनक वित्तीय बाज़ार का एक क़ाबिल जुएबाज़ और सटोरिया भी है। अमेरिका में गोल्डमैन सैक्स में लाखों डॉलर कमाने के बाद वह इंग्लैण्ड में 'चिल्ड्रेन इन्वेस्टमेण्ट फ़ण्ड' नामक एक हेज फ़ण्ड में पार्टनर बन गया और वहाँ सुनक ने सट्टेबाज़ी का जो खेल खेला था, 2008 में वित्तीय बाज़ार के धराशायी होने और आर्थिक संकट के शुरू होने में उस सट्टेबाज़ी की एक अहम भूमिका थी। और यह सब बच्चों की भलाई और कल्याण के नाम पर किया गया था! इस लूट-खसोट और जुएबाज़ी से एकत्र धन से ऋषि सुनक ने अपनी कम्पनी थेलीम खोली जिसकी शुरुआती सम्पदा 52 अरब रुपये थी! थोड़ा पानी पी लीजिए, फिर आगे बढ़ते हैं!

इसके अलावा, ऋषि सुनक ने अपने ज़्यादातर मुनाफ़ाख़ोरी के काम केमैन आईलैण्ड में किये जो कि कर चोरी और भ्रष्टचार से जमा पैसे को छिपाने के दुनिया के सबसे बड़े अड्डों में से एक है। इसके बारे में टैक्स जस्टिस नेटवर्क के एलेक्स कोभाम कहते हैं कि जब केमैन आईलैण्ड में हेज फ़ण्ड के द्वारा कोई निवेश होता है "तो कोई नहीं जान सकता है कि वह पैसा कहाँ से आया है।" ऋषि सुनक चाहता तो अपने इस प्रकार के निवेश के विवरणों को साझा कर सकता था। लेकिन उसने केवल अपने ट्रस्ट के नाम के बारे में खुलासा किया लेकिन उसके बाक़ी विवरणों के बारे में नहीं। और तो और, सुनक की पत्नी सुनक के प्रधानमंत्री बनने तक इंग्लैण्ड में कोई कर भी नहीं दे रही थी। यानी भारत के हमारे अपने मोईजी के चवन्नियों-अठन्नियों की तरह ही सुनक भी अव्वल दर्जे का भ्रष्टाचारी है! इसके अलावा, सुनक ने अपनी अरबपति पत्नी अक्षता मूर्ति के साथ 2013 में एक वेंचर कैपिटल कम्पनी काटामारान वेंचर्स की भी शुरुआत की थी। इंग्लैण्ड में नियमत: हर मंत्री को अपने और अपने परिवार वालों की समस्त सम्पत्ति के बारे में पूरी जानकारी देनी होती है। लेकिन सुनक ने अपनी पत्नी के मालिकाने वाली सारी सम्पत्तियों की जानकारी को साझा नहीं किया है और स्वयं उसकी सम्पत्ति के बारे में भी जानकारी अधूरी ही है। ज़ाहिर है, मेहनतकशों के ख़ून-पसीने को निचोड़कर लूटी गयी सारी सम्पत्ति पूँजीवादी लूट के नियमों के मातहत नहीं आती, बल्कि उन नियमों का उल्लंघन करके भी आती है। इसलिए अपनी इस सारी सम्पत्ति का खुलासा कोई भी बड़ा पूँजीपति या धन्नासेठ नहीं करता है और ऋषि सुनक कोई अपवाद नहीं है।

ऋषि सुनक एक कट्टर हिन्दू भी है! इसी बात को सुनकर तो समूची भक्त मण्डली नाच उठी है। देखो ज़रा इस बन्दे को! इंग्लैण्ड में अरबपति बनकर भी यह अपनी महान संस्कृति और धर्म के मूल को नहीं भूला है! ऋषि सुनक ने अपनी महान सनातन संस्कृति और धर्म के बूते ही तो ऊपर बताये गये सारे कारनामे किये हैं! इस भक्त मण्डली में आप्रवासी भारतीय पूँजीपतियों, उच्च मध्यवर्ग और धन्नासेठों की आवाज़ भारत में मौजूद अण्डभक्तों से कम स्वर में नहीं सुनायी देती। वे तो ऋषि सुनक के इंग्लैण्ड के प्रधानमंत्री बनते ही उन्माद में लोट-पोट ही हो गये हैं। एक ओर भारत के अण्डभक्त ऋषि सुनक के प्रधानमंत्री बनने से हर्षातिरेक के शिकार हैं, तो वहीं आप्रवासी भारतीय पूँजीपति और उच्च मध्यवर्ग भी आनन्दोन्माद में विह्वल है! वजह समझी जा सकती है। ऋषि सुनक के प्रधानमंत्री बनते ही भारत के प्रधानमंत्री मोईजी की उससे फोन पर बात हुई और जो सबसे पहला मुद्दा था, वह यह नहीं था कि "तू भी कट्टर हिन्दू, मैं कट्टर हिन्दू हृदय-सम्राट! अपन दोनों की तो ख़ूब छनेगी!" पहला मुद्दा यह था कि भारत के पूँजीपतियों और इंग्लैण्ड के पूँजीपतियों को हर जगह सस्ते श्रम और कच्चे माल को निचोड़ने और कम-से-कम शुल्कों का भुगतान कर एक-दूसरे के बाज़ार में माल बेचने की पूरी आज़ादी मिले! यानी पहला मुद्दा था भारत और इंग्लैण्ड के बीच का मुक्त व्यापार क़रारनामा! लेकिन यह भी है कि ऋषि सुनक एक कट्टर हिन्दू है। इसलिए उसने अपना जनेऊ दिखाने से लेकर गाय माता की पूजा करने तक के हर मौक़े को मीडिया में सुर्ख़ियाँ बनाने का कोई मौक़ा नहीं छोड़ा। यहाँ के मूर्ख अण्डभक्त और विदेशों के आप्रवासी अण्डभक्त यह सब देखकर और भी भावुक हो गये! हालाँकि इसी बीच ऋषि सुनक जी ने गौमांस से बने पकवानों से सजी पार्टियाँ भी अपने पूँजीपति मित्रों के साथ की! असल में अण्डभक्त भक्ति भी सुविधा के अनुसार करते हैं! कहीं मुनाफ़ा पीटने के लिए गौमांस खाना पड़े तो वह भी खा लेते हैं! अजी, गौमांस तो छोड़िए मुनाफ़े की ख़ातिर ये मानवमांस भी खा सकते हैं! इनका मज़हब ही मुनाफ़ा है! हिन्दू-मुसलमान का टण्टा तो हमें फँसाने के लिए है!

बहरहाल, जिन संघियों ने आज़ादी की लड़ाई में कोई भूमिका नहीं निभायी, उल्टे अंग्रेज़ों के तलवे चाटे और माफ़ीनामे लिखे और जिन्होंने उपनिवेशवाद के ख़िलाफ़ कभी आवाज़ नहीं उठायी, वे आज ऋषि सुनक के प्रधानमंत्री बनने पर राष्ट्रभक्ति की पावन लहर में बहकर ऐसे मदमत्त हुए हैं कि भारत द्वारा इंग्लैण्ड को उपनिवेश बनाकर बदला लेने की बात कर रहे हैं! ऐसे ही एक आप्रवासी अण्डभक्त ने लिखा, "नेटफ़्लिक्स ने अगर अब तक न किया हो तो इस पर एक मिनी सीरीज़ बनानी चाहिए कि किस तरह कुछ भारतीयों ने अंग्रेज़ों पर अपना शासन स्थापित करके उनसे बदला लेने की योजना बनायी – ब्रिटिश लोगों को पता चल गया तो उन्होंने उन्हें अफ़्रीका भगा दिया (ऋषि सुनक के दादा अफ़्रीका से ही 1960 के दशक में इंग्लैण्ड गये थे) – लेकिन उन्होंने हार नहीं मानी और तीन पीढ़ियों बाद ऋषि सुनक के ज़रिए वे कामयाब हुए।" ऐसे अण्डभक्तों के दिमाग़ का आकार आपको पता चल गया होगा! शायद मूँगफली या चुनौटी के बराबर! सारे दक्षिणपन्थियों की यही ख़ासियत होती है। बाक़ी, "गर्व है, सुनक को बधाई हो!", "दीवाली का तोहफ़ा है सुनक का प्रधानमंत्री बनना!"

(पेज 10 पर जारी)

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी कात्यायनी सिन्हा द्वारा 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 से प्रकाशित और उन्हीं के द्वारा मल्टीमीडियम, 310, संजय गाँधी पुरम, फ़ैज़ाबाद रोड, लखनऊ से मुद्रित। सम्पादक : अभिनव ● सम्पादकीय पता : 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006